THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182424

UNIVERSAL
LIBRARY

बाल-विनोद-वाटिका का सातवाँ पुष्प

नटखट पाँडे

लेखक

भूपनारायण दीक्षित, एम्० ए०, एल्० टी०

[खिलवाड़, दिलावर सियार, गधे की कहानी, और कीड़े-मकोड़े के रचयिता]

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३९, लाटूश रोड

लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द १॥)] सं० १९९० वि० [सादी १)

भूमिका

कई वर्ष हुए, अँगरेज़ी की एक पुस्तक पढ़ी थी—A bad boy's diary. उसे देखकर मेरे मन में इच्छा हुई कि यदि इस प्रकार की पुस्तक हिंदी में भी होती, तो अच्छा होता। प्रस्तुत पुस्तक उसी इच्छा का फल है। पर है यह मेरी स्वतंत्र रचना। इसकी रचना में उपर्युक्त अँगरेज़ी पुस्तक से—उसी से क्यों, किसी भी पुस्तक से—सहायता नहीं ली गई है।

पुस्तक के रचना-काल में मुझे एक भारी विपत्ति का सामना करना पड़ा—मेरी प्यारी शारदा का चिर-वियोग। इसके बाद पुस्तक का लिखना बहुत समय तक बंद रहा, और बहुत संभव था कि यह पुस्तक कभी प्रकाश न देखती, यदि उत्साही मित्रों ने अनेक यत्न करके मुझे इसके समाप्त करने को मजबूर न किया होता। उनमें मेरे परम मित्र मीर यावरअली और प्रिय संबंधी पंडित अयोध्याप्रसाद तिवारी विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं।

मित्रवर पंडित शिवभजनलाल मिश्र ने भी पुस्तक के रचना-काल में, समय-समय पर, अपनी बहुमूल्य सम्मति प्रदान कर मुझे अपना ऋणी बना लिया है।

कानपुर
१ जून, १९२१

भूपनारायण दीक्षित

विषय-सूची

	पृष्ठ
१. प्रथम परिचय	१
२. विद्यारंभ	१४
३. पाठशाला में पहला दिन	२७
४. पंडितजी से भेंट	३१
५. पंडितजी से दूसरी मुलाक़ात	५०
६. बीमारी	६२
७. घरवालों की ख़ुफ़गी	७५
८. पड़ोसियों से मुठभेड़	८६
९. अँगरेज़ी स्कूल में	९७
१०. बोर्डिंग-हाउस में	१०६
११. स्कूल की पढ़ाई	११६
१२. नाच-पार्टी	१३०
१३. नाच का भोर	१४०
१४. परीक्षा से पूर्व	१५२
१५. ट्यूशन	१६३
१६. रस्टीकेशन	१७५
१७. छोटे बाबू	१८६

नटखट पाँड़े

पहला परिच्छेद

प्रथम परिचय

मेरा असली नाम तो पंडित जंगीलाल पांडेय है, पर प्रसिद्ध हो जाने के बाद से उसमें से 'पंडित' और 'लाल' बेचारे उसी प्रकार झड़ गए, जैसे पतझड़ में नीम की पत्तियाँ झड़ जाती हैं। 'पांडेय' बेचारा भी सिकुड़कर खरा 'पाँड़े' रह गया, ठीक उसी प्रकार, जैसे लहलहाती हुई मोटी-ताजी निबौरी ज्येष्ठ की लू खाकर सिकुड़ जाती है। अब मैं कोरा जंगी पाँड़े रह गया, और सच बात तो यह है कि मैं खुद भी इस नाम को बहुत पसंद करता हूं। मैं सच कहता हूँ, मुझे उन दो-दो और चार-चार गजवाले नामों से ऐसी घृणा है कि यदि कोई ऐसा नाम मेरे सामने लेता है, तो उसे मैं बिना दो-चार ऐंड़ी-बेंड़ी सुनाए नहीं रहता।

मेरा जन्म संयुक्तप्रांत के एक जबरदस्त जिले के एक जबरदस्त गाँव में हुआ था। सन्, संवत्, मुहूर्त, घड़ी, पल, सभी जबरदस्त थे। जिस वंश में मेरा जन्म हुआ था, वह भी बड़ा ही जबरदस्त था। मेरे पिता जमींदार, काश्तकार, महाजन,

दूकानदार—सभी कुछ थे। गाँव के वही कर्ता-धर्ता और मुखिया थे। उनके मुख से जो बात निकल जाती थी, उसका गाँव-भर में वेद-वाक्य की तरह आदर होता था।

किस तारीख़ को मेरा जन्म हुआ था, यह मुझे ठीक नहीं मालूम, पर इतना ज़रूर मालूम है कि तारीख़ भी बड़ी ज़बरदस्त थी। तारीख़, सन् या संवत् ऐसी चीजें हैं, जिन्हें याद रखने में मुझे मज़ा नहीं आता। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि उसी तारीख़ को भारतवर्ष के एक ज़बरदस्त लाट ने दिल्ली में एक ज़बरदस्त दरबार किया था। गाँव में भी उस दिन कई ज़बरदस्त वाक़िए हुए थे। हमारे चचा के घर में उस दिन ऐसी ज़बरदस्त आग लगी थी कि झाड़ू तक नहीं बची थी। यदि पैदा होने ही के दिन मुझमें समझ आ गई होती, तो इस बात से मुझे ज़रूर रंज होता; क्योंकि मेरे चचा के कोई संतान नहीं थी, और वह सारी जायदाद मेरे ही नाम लिखानेवाले थे। दूसरा वाक़या यह हुआ कि एक पड़ोसी को एक पागल कुत्ते ने ऐसा काटा कि बेचारे को दूसरे ही दिन कसौली जाना पड़ा। तीसरा वाक़या बड़ा ही ज़बरदस्त था, क्योंकि यह ख़ास हमारे ही घर का था। हमारी नानी उन दिनों हमारे ही घर पर रहती थीं। उनकी दाढ़ में उस दिन ऐसा दर्द हुआ कि बेचारी आँगन में लोटी-लोटी फिरती थीं। मामला यहाँ तक बढ़ गया कि जब पहले-पहले मैंने दुनिया का प्रकाश देखा, और अपने फेफड़ों की ताक़त आज़माने के साथ ही

अपनी आवाज से सबको अपने आने की खबर देने लगा, तो मेरी आवाज मेरी नानी के तजुर्बेदार फेफड़ों की आवाज में एकदम गायब हो गई। नानीजी की तरह-तरह की आवाजों से सारा घर इतना गूँज रहा था कि मेरा रोना किसी के कान तक न पहुँचा। हाँ, जब घर की महरिन ने नानीजी को एक जबरदस्त फटकार सुनाई, तब वह कुछ ठंडी हुईं। महरिन ने कहा—"अरी, कैसी बुढ़िया है कि सगुन-साइत आँसू बहाती है। देख, तेरे नाती हुआ है।" तब कहीं नानीजी के होश-हवास दुरुस्त हुए।

मेरे पैदा होने के कोई तीन महीने बाद ही ऐसा भारी अकाल पड़ा कि सारे गाँव में चूहे डंड पेलने लगे। लोग तारे गिन-गिनकर रातें काटने लगे। बुढ़ियाँ फूल-पत्ती ले-लेकर अपने-अपने इष्टदेव की पूजा-पाठ करने लगीं, और कोई-कोई तो मुझे ही अकाल का कारण समझ पीठ-पीछे मुझे कोसने लगीं। पर इससे भला अकाल कब दूर होनेवाला था।

उसी साल गाँव में प्लेग भी खूब चला, जिसमें सैकड़ों चोर काम आए। हमारे घर तक उसका जोर पहुँचा, यहाँ तक कि बेचारी नानी के गिल्टी भी निकल आई। पर खैरियत हुई; राम-राम करके बच गईं। कुल्ली नाई और भज्जू लोध ने अनेक प्रकार की दवा-दारू से उन्हें बचा ही लिया। तब से गाँव-भर में कुल्ली और भज्जू धन्वंतरि का अवतार समझे जाने लगे।

जब मैं तीन वर्ष का हुआ, तो एक दफ़ा अपने साथियों के साथ पैसा फेक-फेककर खेल रहा था। आपस में यह होड़ लग रही थी कि देखें किसका पैसा सबसे दूर जाता है, इससे फेकने में सारी ताक़त लगा देनी पड़ती थी। एक दफ़ा मैंने जो उछलकर पूरी ताक़त से पैसा फेका, तो उधर से आफ़त की मारी नानी आ निकलीं। बुढ़िया ने ज़रा भी न विचारा कि आख़िर लड़कों के बीच में जाने की क्या ज़रूरत; आख़िर उसी दम अपनी नासमझी का फल पाया। मेरा फेका हुआ पैसा जाकर उसके माथे में ऐसे ज़ोर से बैठा कि लहू की धार बहने लगी, और बेचारी सिर हाथों से पकड़ वहीं बैठ गई। यह माजरा देख मेरे साथी तो उड़नछू हो गए, और मुझे अकेले उस बुढ़िया का सामना करने के लिये छोड़ गए। अंत में जब मैंने देखा कि वह बैठी ही रह गई, ज़रा भी न हिली-डुली, तब इस भय से कि कहीं वह खत्म तो नहीं हो गई, मैं सारी हिम्मत बटोरकर बोला—"नानी! नानी!! कहो, क्या हुआ?" अब तो मानो नानी की देह में आग लग गई। उन्होंने हमारे सीधे-सादे प्रश्न का उत्तर ऐसी-ऐसी चुनी हुई गालियों में देना शुरू किया कि मैं तो पत्थर की मूर्ति बन गया। खैर, वह उठीं, और सीधे घर के भीतर पहुँचीं। वहाँ पर उन्होंने क्या कहा, इसके सुनने की मेरे मन में बड़ी इच्छा थी, पर उस समय घर के भीतर जाना मैंने मुनासिब

न समझा। उस दिन भी कुल्ली और भज्जू बुलाए गए, और उन्हीं बेचारों ने उस मामले को रफ़ा-दफ़ा किया।

दूसरा मामला आ पड़ा। इस दफ़े मा पर बीती। मैं चिमटा लिए आँगन में खेल रहा था, और मा चटाई पर पड़ी ऊँघ रही थीं। जी में आया, देखूँ, अम्मा को मेरे चिमटे से चोट लगती है या नहीं। जो जी में आए, उसे कर डालना मेरी बचपन की आदत है; बस, फिर क्या था, मेरे हाथ का चिमटा मा के सिर पर पड़ ही तो गया। मा की नींद एकदम न-जाने कहाँ भाग गई, और वह छटपटाकर उठ बैठीं। इधर मैं चिमटा लिए चंपत हो गया। बाद को क्या हुआ, सो तो नहीं मालूम, पर जब मैं चिमटे को फेंक-कर वापस आया, तो मा के सिर में पट्टी बँधी हुई देखी। उस दफ़ा भी मैं साफ़ बच गया।

इसके कुछ दिन बाद एक दिन मैं शाम को अपने चबूतरे पर साथियों के साथ खेल रहा था। चबूतरे के एक ओर एक कुआँ भी था। हमारा एक साथी था 'संतू'; वह बार-बार खेलना बंद करके कुएँ की जगत पर जा बैठता और हम सबको चिढ़ाता था। मैंने सोचा, कुछ सज़ा दे देना बुरा न होगा। उसके कान गर्म करने के इरादे से मैं उसके पास पहुँचा। पर। मामला बड़ा संगीन हो उठा—इतना संगीन, जिसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था—बात यह हुई कि मैं संतू की तरफ़ इतने ज़ोर से झपटा कि उसके मेरा एक

हलका-सा धक्का लग गया। संतू था कमज़ोर, उस ज़रा-से धक्के से ही लुढ़कता हुआ झम-से कुएँ के अंदर हो रहा। उधर उसका गिरना था, इधर मेरे साथी 'नौ दो ग्यारह' हुए। अब मैं क्या करता, कुछ समझ में न आया। निदान, कुएँ की जगत पर पहुँचकर मैं अंदर की ओर झाँकने लगा। देखा, तो संतू अजब तरह से डुबकियाँ लगा रहा है। कभी पानी के अंदर जाता है, और कभी ऊपर आता है। मैंने देखा, वह पानी भी खूब पी रहा है। मैंने भी सोचा, बचा को कभी इतना पानी पीने के लिये काहे को मिला होगा। साथ ही बरसों का जमा हुआ उसकी देह का मैल भी साफ़ हो गया। अपने से संतू ने कभी काहे को स्नान किया होगा—सो वह मेरे कारण हो गया—यह सोच-सोचकर मुझे हर्ष होने लगा। पर साथ ही यह सोचकर कि मेरे कुएँ का पानी गँदला हो गया, और कई दिन तक पीने के काम का न रहेगा, मुझे रंज भी होने लगा।

संतू के कुएँ में गिरने का झमाका सुनकर अड़ोस-पड़ोस के कई लोग दौड़ आए, और मुझसे हाल पूछने लगे। मैंने संतू के गिरने की बात तो बतला दी, पर उसमें जो मेरा भाग था, उसे बतलाने की मैंने ज़रूरत न समझी। निदान, एक आदमी झट-से कुएँ के अंदर उतर गया, और तुरंत उस लड़के को निकाल लाया। संतू की सूरत उस

समय देखते ही बनती थी । ठीक भीगे चूहे-जैसा लगता था । जबरदस्ती नहलाए जाने के कारण बड़ा उदास हो रहा था । कुएँ में पहुँचकर वह अपने पानी पीने के लोभ को रोक न सका, और इतना अधिक पी गया कि दो आदमियों ने उसे उलटे टाँगकर उसके मुँह से पानी निकाला। देह तो उसकी बिलकुल साफ़ हो गई थी, पर कभी नहाया तो था नहीं, इससे मारे जाड़े के काँप रहा था। इस कारण लोगों को आग जलाकर उसकी देह में गर्मी पहुँचानी पड़ी। अंत में लोगों ने उसे उसके घर भेज दिया।

कहते हैं, बेचारा संतू कई दिन तक बीमार रहा। इससे मुझे बड़ा रंज हुआ। भला अपने साथी की बीमारी से किसे रंज नहीं होता ! मैं उसे देखने के लिये कई दफ़ा उसके घर गया, पर किसी ने मुझे उससे मिलने न दिया। उनको ख़याल था कि मैंने संतू को जो कुएँ में ढकेल दिया, इसी से वह बीमार पड़ गया। पर यह बात मेरी समझ में बिलकुल न आई। कुएँ में गिरना एक बात है और बीमार होना दूसरी—इन दो विभिन्न बातों को एक साथ जोड़कर रस्सी का साँप बना देना कैसी मूर्खता-पूर्ण बात है। यह वे ही समझ सकते हैं, जिन्हें कभी देहातियों से काम पड़ा है। धीरे-धीरे जब उसे बिलकुल आराम हो गया, तब भी वह मेरे साथ खेलने कभी न आया। मालूम हुआ कि उसकी मा ने मेरे साथ खेलने को एकदम मना कर दिया

है। हाँ, छिप-छिपाकर जब-तब हमसे मिल जरूर जाता था।

छ वर्ष की अवस्था में एक और जबरदस्त मामला उठ खड़ा हुआ, जिसका मुझे बहुत दिनों तक रंज रहा। सुबह का समय था, और जाड़े के दिन। हमारे पिताजी लेन-देन के बहीखाते निकाले तख़्त पर बैठे कुछ लिख रहे थे। पास ही नीचे अँगीठी रक्खी हुई थी। मैं भी वहीं खेल रहा था। पिताजी किसी जरूरी काम से सब काग़ज़ ज्यों-के-त्यों खुले छोड़कर कहीं चले गए। इधर मैं उनका मुलाहज़ा करने लगा। अचानक जो अँगीठी की ओर निगाह गई, तो क्या देखता हूँ कि आग बुझी जा रही है। पिताजी को फिर आग बनाने में कितना कष्ट होगा, यह सोचकर मैंने तय कर लिया कि आग बुझने न दूँगा। बीसों दफ़े पिताजी को अँगीठी में काग़ज़ फाड़-फाड़कर डालते देखा था। मैंने भी वैसा ही किया। तख़्त पर के काग़ज़ अँगीठी में फाड़-फाड़कर डालने शुरू कर दिए। उधर आग ज़ोरों से जलने लगी। ज्यों-ज्यों आग की लौ उठती थी, मेरा उत्साह भी बढ़ता जाता था। अनेक काग़ज़-पत्र उस दिन अग्नि देवता की भेंट चढ़ गए, यहाँ तक कि बहियों के अनेक वर्क़ भी काम आए।

ज़रा देर में पिताजी वापस आए, और मेरी सेवा का कुछ भी ख़याल न करके लगे मुझे चपतियाने। मैं तो समझा था कि आग जलाए रखने के लिये पिताजी मुझ पर प्रसन्न होंगे,

और मुझे शाबाशी देंगे—पर वहाँ तो चपतबाज़ी होने लगी। यह उलटा मज़मून देखकर मैं बड़ा ही उदास हो गया, यहाँ तक कि मेरे दो-चार आँसू भी निकल पड़े। अनेक धन्यवाद हैं बेचारी महरिन को, जो मुझे झाड़ती-पोंछती अंदर ले गई।

बाहर से पिताजी की आवाज़ आई—"हायरे, ग़ज़ब हो गया! मेरे सब दस्तावेज़ जल गए; बही के पन्ने भी फाड़ डाले! अरे राम! अब क्या होगा?" कहते हैं, इस वाक़िए के तीन दिन बाद तक पिताजी ने मुँह में कौर नहीं दिया। मुझे भी इस मामले का बहुत दिन तक रंज रहा।

दूसरा परिच्छेद

विद्यारंभ

सात वर्ष की उम्र में मेरा विद्यारंभ हुआ। यह काम गाँव के नन्हू पंडित के सिपुर्द हुआ। ईश्वर ने पंडितजी को बहुत छोटा बनाया था, इसी से उनका नाम नन्हू पड़ गया था। मेरा तो ख़याल है कि ईश्वर ने एक बौने की रचना के लिये सारा सामान जुटाया था, पर बाद को भूल से उसी सामान से नन्हू पंडित को बना डाला। छोटे होने के कारण पंडितजी का बहुत किफ़ायत से गुज़ारा होता था। अठगजे धोती के जोड़े ही से उनका काम चल जाता था। उनकी मिरज़ई में भी बहुत कम कपड़ा लगता था। जूते वह बहुत ही ख़ासे मौक़ों पर पहनते थे, और उनके ख़रीदने की कभी नौबत ही न आती थी। उलटे तेरहियों में मिले सैकड़ों जूते उनके यहाँ हर समय बिक्री के लिये तैयार रहते थे। खाते भी शायद वह कम थे, इसी से उनके पास न्योतों का ताँता लगा रहता था। साल-भर में शायद ही कभी उन्हें चूल्हा जलाना पड़ता हो। सीधा-पिसान की भी उनके यहाँ ख़ूब भरमार रहती थी, क्योंकि उनके यहाँ सीधे भेजने में भी लोगों को किफ़ायत रहती थी।

पंडितजी विद्वान् भी अच्छे हैं। कहते हैं, उन्होंने केवल

दो सप्ताह में ही शीघ्रबोध को कंठ किया था। किसी-किसी श्लोक के माने भी अच्छे कह लेते थे। बचपन में उन्होंने लघुकौमुदी भी पढ़ी थी, पर किसी कारण उन्हें उसके सूत्र पसंद न आए, इससे उन्होंने उसे ताक़ पर रख दिया, जहाँ वह अब तक रक्खी हुई है। जब पंडितजी कभी घर में ख़फ़ा होते हैं, या जब कभी उनकी किसी पंडित से अनबन हो जाती है, तभी वह पोथी आले से उतरती है, क्योंकि पंडितजी को पूरा विश्वास है कि उसमें कुछ ऐसा जादू का असर है, जो मौक़े-मौक़े पर मारण, मोहन, उच्चाटन या वशीकरण का काम कर सकता है। वास्तव में पंडितजी जब क्रोध से अपने तिकोने मुँह को सोलह कोने का बनाकर धूल-भरे कपड़े में लपेटी हुई उस पुस्तक को हाथ में लेते हैं, ता बड़े-बड़े दिग्गज पंडित भी उसी प्रकार भयभीत हो उठते हैं, जैसे हनूमान् की गरज से रावण की सेना दहल उठी थी। बस, फिर चाहे जैसा विद्वान् हो, उससे पंडितजी के हाथ जोड़ने के सिवा और कुछ नहीं बन पड़ता।

पंडितजी की विद्वत्ता का पूरा परिचय देना मेरी मोटी अक़्ल के बाहर है; इसकी ज़रूरत भी नहीं। क्योंकि गाँव में ऐसा कौन-सा प्राणी है, जो इसे न जानता हो। शाम को कभी-कभी, जब पंडितजी अपनी बेसुरी तान से रामायण की चौपाइयों का गान करते हैं, और टीकाकारों को गाली

देते हुए अपने निज के अर्थ बतलाते हैं, उस समय गाँव में ऐसा कौन है, जो आपकी योग्यता देखकर दाँतों-तले उँगली न दबाए। हल्लू लोहार तो आप पर जी-जान से फ़िदा है, और उसके आग्रह से पंडितजी जब-तब रामायण के स्थान में नौटंकी के गाने ऐसी सुरीली तान से छेड़ते हैं कि फिर यही मालूम होता है कि तानसेन का दूसरा अवतार हुआ है। क़िस्सा तोता-मैना आठो भाग आपको बिलकुल ज़बानी याद है, इसी से जिस रोज़ आप उसके सुनाने के लिये उतारू होते हैं, उस रात मुहल्ले-भर में 'रतजगा' हो जाता है।

पंडितजी की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि आप जप करके असंभव को भी संभव कर दिखा सकते हैं। किसी का रोग चाहे कितना ही असाध्य क्यों न हो, यमराज के द्वार पर पहुँचने में किसी को चाहे केवल मिनटों की ही देर क्यों न हो, पर पंडितजी अपने असाधारण जप से ऐसों को भी जीने के लिये दस-बीस वर्ष दिला सकते हैं। साथ ही यह भी कह देते हैं कि जैसा गुड़ डालोगे, वैसा ही मीठा होगा। ठीक है, पंडितों का स्पष्टवादी होना ही चाहिए। इसी से तो जब आप किसी के यहाँ जप करने जाते हैं, तो बिना किसी संकोच के खाने-पीने की वस्तुएँ माँग लिया करते हैं। जप में भी लघुकौमुदी की पोथी बहुधा साथ रखते हैं; पर हाँ, बस्ते से उसे निकालते बहुत कम हैं। जप के आपके दो मंत्र हैं—वे भी मुझे उस समय मालूम

हुए, जब आप नानी की बीमारी में हमारे मंदिर में जप किया करते थे। एक दिन खेलता-खेलता जा मैं मंदिर के पास पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि पंडितजी डेढ़ फ़ुट की चोटी फटकारे हिल-हिलकर "हलंत्यम्", "हलंत्यम्" की आवाज़ लगा रहे हैं। यही पंडितजी का मुख्य मंत्र है, और इसी के ज़ोर से आप असंभव को भी संभव कर सकते हैं। तब से जब कभी मुझे रात को भूत-प्रेत से भय लगता है, तो मैं भी "हलंत्यम्" कह लेता हूँ।

दूसरा मंत्र बहुत बड़ा है, और उसका जप पंडितजी किसी बहुत ही बड़ी आपत्ति आने पर करते हैं। मरते हुओं को जिलाने के लिये ही उसका प्रयोग होता है। वह कुछ-कुछ इस प्रकार का है—"ओं वकारस्य दंत्योष्ठम् ओं जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।" है न टेढ़ा! स्वयं पंडितजी जब इसे जपते हैं, तो पसीने से तर-बतर हो जाते हैं। पंडितजी कहा भी तो करते हैं कि इस मंत्र को दस बार जपने से जितनी कसरत हो जाती है, उसकी आधी भी दिन-भर हल चलाते रहने से नहीं हो सकती। इसी लिये तो जिसके यहाँ पंडितजी कृपा करके इस मंत्र का पाठ करना स्वीकार कर लेते हैं, उसे और चीज़ों को छोड़कर पंडितजी के लिये रोज़ पंसेरी-भर दूध का भी प्रबंध करना पड़ता है।

मुहूर्त देखने और जन्म-पत्र विचारने में आप बड़े ही पक्के हैं। और पंडितों के मुहूर्त अटल होते हैं, पर आपके

मुहूर्त रबड़ के टुकड़े की तरह खींच-खींचकर यजमान की ही सुविधा के अनुकूल बढ़ाए या घटाए जा सकते हैं। पंडितजी को आप दक्षिणा या सीधे के वादे से ज़रा ख़ुश कर लीजिए, फिर देखिए कि मुहूर्त आपके पीछे-पीछे घूमेंगे। यदि आपको तीन बजेवाली गाड़ी से ही जाना है, तो पंडितजी सौ-सौ यत्न करके किसी-न-किसी मुहूर्त को ज़रूर पकड़ लाएँगे, और उसे आपके साथ कर देंगे। विवाह के लिये जन्म-पत्र मिलाने में आप ज़रा सख़्ती से काम लेते हैं; क्योंकि यह विषय ही बड़ा नाज़ुक है। यही तो कारण है कि जब कोई आपके पास जन्म-पत्र मिलवाने के लिये जाता है, तो पहले वे किसी हालत में नहीं मिलते। पंडितजी "दैवो दुर्बलघातकः" की दुहाई देते हुए वर या कन्या—दो में से किसी एक का क्षय बतलाकर विवाह नामंज़ूर कर देते हैं। पर बहुत कहने-सुनने और कुछ विशेष प्रकार के वचन ले लेने पर आप दुबारा जन्म-पत्रों को मिलाने के लिये तैयार होते हैं, और इस दफ़ा राहु, केतु, मंगल या किसी और ज़ोरदार ग्रह की बदौलत जन्म-पत्र ठीक मिल जाते हैं, अथवा वर-कन्या की नाड़ी तो अवश्य ही मिल जाती है, और विवाह ठीक हो जाता है। पंडितजी बड़े गर्व के साथ कहा करते हैं कि उनके जीवन-काल में आज तक कोई ऐसे दो जन्म-पत्र नहीं मिले, जिन्हें वह जोड़-तोड़ लगाकर मिला न सके हों।

पंडितजी वैद्यक में भी खासा दखल रखते हैं। ऐसा कोई रोग नहीं, जिसके निदान पर आप दो-एक श्लोक न कह सकें। 'शीघ्रबोध' में भला क्या-क्या नहीं है। किसी जमाने में आपकी बैदकी ख़ूब चलती थी; पर जब से गाँव में कुल्ली और भज्जू का ज़ोर हुआ है, तब से इस मामले में पंडितजी की अधिक पूछ नहीं है। शायद यही कारण है कि पंडितजी मन-ही-मन कुल्ली और भज्जू से ख़फ़ा रहते और पीठ-पीछे उनकी बुराई किया करते हैं। सच्ची बात यदि सामने न कही जाय, तो क्या उसके पीठ-पीछे कहने में भी कोई बुराई है?

पंडितजी ने अपनी चौपाल में एक पाठशाला भी खोल रक्खी है, जिसमें फ़ीस तो कुछ नहीं पड़ती, हाँ, पंडितजी को सीधे-पानी से संतुष्ट रखना पड़ता है। जो सीधा-पिसान भी नहीं दे सकते, वे पंडितजी की सेवा करके—उनकी देह दाबकर, उन्हें नहला-धुलाकर, उनके लिये पानी भरकर, चौका लगाकर और बर्तन माँजकर—विद्योपार्जन कर सकते हैं। पंडितजी यद्यपि रोज़ अपने विद्यार्थियों को पाठ नहीं पढ़ाते—उनके-जैसे विद्वान् को इतनी फ़ुरसत हो कहाँ मिल सकती है—पर जिस दिन पढ़ाते हैं, जी-जान से पढ़ाते हैं। उस दिन विद्यार्थियों पर जो कुछ बीतती है, वह वे ही जानते हैं। पंडितजी का एक दिन का पढ़ाया हुआ सबक़ विद्यार्थियों को छ महीने के लिये काफ़ी होता है। कई विद्यार्थियों

को पाठशाला में पढ़ते हुए बरसों गुज़र जाते हैं, पर एक सबक़ से अधिक की नौबत ही नहीं आती। पर इसमें बेचारे पंडितजी का क्या दोष? "फूलै फलै न बेत, जदपि सुधा बरसै जलद।"

हाँ, तो इन्हीं पंडितजी को हमारी पाटी छुलाने का भार सौंपा गया। हमारे घर के सुंदर आँगन में एक विशाल मंडप बनाया गया, और गाँव-भर के सभी आदमी बुलाए गए। सभी लोग अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनकर आए, और आँगन में बैठे। पान और इत्र से उनका सत्कार हुआ। मुझे भी उस दिन नए, सुंदर वस्त्र पहनने को मिले। मेरा सोने के काम का मख़मली कोट, पायजामा और टोपी मुझे ख़ूब खिलती थी। अपनी पोशाक पहनकर मैं फूला न समाता था। उस समय सारा संसार मुझे तुच्छ नज़र आता था। सारे मंडप की आँखें मेरी ही ओर लगी हुई थीं।

यह सब कुछ था, पर पंडितजी अब तक नदारद थे। उनके बिना सारा गुड़ मिट्टी हो रहा था। मुहूर्त टला जा रहा था। पिताजी हैरान हो रहे थे। मुहूर्त टलता देख पिताजी ने एक आदमी पंडितजी को बुलाने के लिये भेजा। आदमी अकेला वापस आया, और बोला कि पंडितजी गाय के लिये ज़रा हरियाली लाने गए हैं, अभी आते होंगे। थोड़ी देर तक पंडितजी की और राह देखी गई; पर वह प्रकट न हुए। तब पिताजी ने घबराकर दुबारा आदमी

भेजा। आदमी आया तो अकेला ही, पर इस दफ़ा अधिक आशा-जनक उत्तर लाया। मालूम हुआ, पंडितजी गाय की सानी करने में लगे हुए हैं, और अभी आनेवाले हैं। पंडितजी की इस गो-भक्ति को देखकर सारा मंडप मौन रह गया। पिताजी भी बड़े गो-भक्त थे; इससे वह भी कुछ न कह सके। कुछ देर और राह देखी गई, पर पंडितजी न आए, न आए। निदान पिताजी को तीसरी दफ़ा आदमी भेजना पड़ा। इस दफ़ा मालूम हुआ, पंडितजी वस्त्र धारण कर रहे हैं। अब तो लोगों का धीरज उड़ने लगा, पर ऐसे ज़बरदस्त पंडित के विरुद्ध किसी को ज़बान हिलाने तक की हिम्मत न पड़ी। मुहूर्त न-जाने कब का टल चुका था, पर इसका मेरे सिवा शायद किसी को अधिक ख़याल न था। सब लोग बड़ी ख़ुशी से पंडितजी की बाट जोहने लगे।

थोड़ी देर बाद किसी ने आकर कहा, पंडितजी आ रहे हैं। सारी सभा में एकदम सन्नाटा छा गया। फिर एकदम कई तरफ़ से आवाज़ें आईं कि पंडितजी आ रहे हैं। सब लोग दरवाज़े की ओर टकटकी लगाए बैठे रह गए। अंत में पंडितजी का प्रवेश हुआ।

अपने भावी गुरु के उस दिन, मैंने पहले-पहले दर्शन किए। पंडितजी अपने विद्यार्थियों के नाम ले-लेकर उन्हें गाली सुनाते हुए अंदर घुसे—"बड़े पाजी हैं। महीनों से हरियाली नहीं लाए। गाय की सानी तक नहीं की।" इसी

तरह की बातें, पर इनसे कहीं अधिक ज़ोरदार शब्दों में, पंडितजी के मुख से फूलों की तरह झड़ती जा रही थीं। साधारण तौर से पंडितजी बड़े ही सीधे आदमी थे—सारा गाँव यही कहता है—पर उस दिन तो पंडितजी एकदम "सहजहु चितवत मनहुँ रिसाने" का मज़मून बन रहे थे।

पंडितजी को सादगी बहुत पसंद है। यही तो कारण है कि आप कभी अपने कपड़े धोबी के यहाँ नहीं डालते। आपकी धोती सूती थी, पर निरंतर प्रयाग के कारण तथा धोबी के दर्शनों से वंचित रहने से बिलासपुरी थान को मात करती थी। अँगरखा भी आपका नायाब था। किसी ज़माने में बना तो वह लंकलाट का था, पर अब तो खाकी जीन का मज़ा दे रहा था। उस पर मैल के पलस्तर-पर-पलस्तर जमे हुए थे। पंडितजी की टोपी तो एकदम निराली चीज़ थी। पिछले दस-बीस वर्षों में पंडितजी ने अपने सिर में जो तरह-तरह के तेल लगाए थे, उन सबको पीकर वह ठीक चमड़े के एक गोल टुकड़े की तरह मालूम पड़ने लगी थी।

पर पंडितजी एकदम सादे भी न थे। जूते के मामले में वह बेहद शौक़ीनी करते थे। पहनते तो थे चमरौधा ही, क्योंकि तेरहीं में बूट जूतों के देने का रिवाज अभी जारी नहीं हुआ था, और चलाते भी थे उसे चार-पाँच वर्ष, पर उसमें चौथे दिन रेंड़ी का तेल ज़रूर डालते थे। तभी तो आपके

पैरों पर इतनी धूल जम गई थी कि जूते उतार देने के बाद भी ऐसा मालूम होता था, मानो आप जूते पहने हुए हैं। क़ालीन पर जहाँ आपके पैर पड़ते थे, सुंदर चित्र खिंच जाते थे। आसन पर पंडितजी के विराजते-विराजते सारा क़ालीन ऐसे चित्रों से रँग उठा। किसी ने मूर्खता-वश पंडितजी के कानों में यह बात डाल दी, पर पंडितजी ने हँसी में बात टाल दी।

निदान, पंडितजी आसन पर विराज गए, और लगे मंगलाचरण करने। इसके बाद नवग्रह की स्थापना तथा सरस्वती-पूजा का विधान हुआ। सरस्वती-पूजा के लिये पंडितजी घर से एक पुस्तक विशेष रूप से लाए थे, और उसी के मुताबिक़ अंत तक काम होता रहा। पर अंत में जब उस पुस्तक में पिंड-दान का ज़िक्र आया, तब तो पंडितजी का रंग एकदम उड़ गया। बेचारे ने झेंप मिटाने के लिये इधर-उधर के श्लोक पढ़ना शुरू कर दिए, पर लोग सारी बात समझ ही गए। पंडितजी सरस्वती-पूजा की पुस्तक के स्थान में श्राद्ध की पोथी उठा लाए थे।

पिताजी कुछ क्रुद्ध होकर बोले—"अब क्या होगा पंडितजी?" पंडितजी बोले—"होगा क्या? चुटकियों में सरस्वती-पूजा होती है। श्राद्ध और सरस्वती-पूजा बहुत कुछ मिलती-जुलती है।" यह कहकर आप फिर पूजा में लग गए। पर इस दफ़े बिना किसी पुस्तक की सहायता के थोड़ी देर में सारी पूजा समाप्त हो गई।

मेरे विद्यारंभ के लिये पिताजी ने चाँदी की एक तख़्ती बनवाई थी। पूजा समाप्त करके पंडितजी ने हल्दी से अपनी उँगली द्वारा उस पर "श्रीगणेशाय नमः" लिख दिया। इसके बाद तख़्ती मेरे हाथ में दे उसे सिर में लगाने को कहा। पंडितजी ने तख़्ती सिर में लगाने को तो कहा, पर यह नहीं बतलाया कि किसके सिर में लगाऊँ, इससे मैं गहरे सोच-विचार में पड़ गया। क्षण-भर बाद पंडितजी ने अपनी आज्ञा दोहराई, पर सिर-संबंधी मामला फिर भी साफ़ नहीं किया। मैंने सोचा, लिखा तो तख़्ती पर पंडितजी ने ही, इससे हो-न-हो वह उसे अपने ही सिर में लगाने के लिये कह रहे हैं। पंडितजी जल्दी भी मचा रहे थे, इससे बिना अधिक सोचे-विचारे मैंने तख़्ती उठाकर पंडितजी के सिर पर पटक दी। बड़ा लुत्फ़ रहा—सारी महफ़िल एकदम हँस पड़ी। हाँ, पंडितजी के ओठ ज्यों-के-त्यों सटे ही रह गए। शायद कुछ क्रुद्ध भी हुए, पर कुछ बोले नहीं। हाँ, झटपट अपने सिर से तख़्ती हटाकर एक ओर पटक दी। मुझे भी अपनी ग़लती मालूम हो गई।

इसके बाद मुझसे पंडितजी के पैर छूने के लिये कहा गया। इस प्रस्ताव से मेरे तो हाथ-पैर ढीले पड़ गए। मुझे बार-बार अपने साफ़ हाथों का ख़याल होने लगा। मैं कभी अपने हाथों की ओर देखता, और कभी पंडितजी के चरण-कमलों की ओर। यदि केवल हाथों का ही

मामला होता, तो कोई बात न थी, क्योंकि उन्हें तो धोकर साफ़ कर सकता था, पर कोट की आस्तीनों तथा टोपी के लिये भी ख़तरा था। इससे पहले तो मैं इस बात को सुनी-अनसुनी कर गया। जब दुबारा फिर आग्रह हुआ, और पिताजी ने भी ज़ोर दिया, तब तो मुसीबत पड़ गई। मैंने देखा, मेरी महरिन आँगन के एक कोने में खड़ी है। उस समय मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो डूबते को नाव मिल गई। मैंने उससे चट एक लोटा पानी लाने के लिये कहा। लोग देखने लगे कि मामला क्या है। महरिन ने पानी लाकर मेरे पास रख दिया। अब मैं पंडितजी से बोला—"पंडितजी, लोटे में पानी है; ज़रा पैर धो डालिए।" मेरी बात सुनकर कुछ लोग तो हँसते-हँसते लोटने लगे, पर साथ ही कुछ लोग बोल उठे कि लड़का बड़ा गुस्ताख़ है। उस ज़रा-सी बात में गुस्ताख़ी कहाँ थी, यह मैं आज तक न जान सका। पंडितजी क्रोध से लाल हो उठे, और चढ़ाई हुई सामग्री बटोरकर घर जाने लगे। उधर पिताजी भी मुझ पर बहुत बिगड़े, और फिर पैर छूने का हुक्म दिया। निदान, लाचार होकर मैंने टोपी एक ओर उतारकर रख दी, और कोट के बटन खोलने लगा। पिताजी ने पूछा—"यह क्या करता है?" मैंने कहा—"कपड़े तो उतार डालूँ।" अब तक कोट भी उतार चुका था। फिर मैंने पंडितजी के पैर छुए, पर सिर से लगाना भूल ही गया। ख़ैरियत हुई कि यह

ग़लती किसी ने देखी नहीं। उसके बाद हाथ धोकर मैंने फिर कपड़े पहन लिए। मुझे तो ख़याल आता है कि हाथ धो लेने के बाद भी उनसे कई दिन तक बदबू आती रही थी।

अंत में मिठाई बाँटी गई। सब लोग अपने-अपने घर गए।

तीसरा परिच्छेद

पाठशाला में पहला दिन

इसके थोड़े दिन बाद ही मुझे नन्हू पंडित की पाठशाला जाना पड़ा। पंडितजी उस दिन भी लापता थे, इससे हमारे नौकर को भी हमारे साथ कई घंटे तक वहाँ बैठना पड़ा। मालूम हुआ कि पंडितजी मरीज़ देखने गए हैं। मैंने भी मन में सोचा, अच्छी बात है, जहाँ तक बला टले, वहीं तक अच्छा। इधर मुझे पाठशाला के रंग-ढंग देखने का अच्छा मौक़ा मिल गया। मैंने मन-ही-मन कहा कि अच्छी बात है। पंडितजी, आप मरीज़ की नाड़ी देखिए, इधर मैं आपकी पाठशाला की नब्ज़ देखता हूँ। निदान, मैंने बिना अधिक समय खोए अपना मुआ-इना शुरू कर दिया।

हाँ, तो पाठशाला पंडितजी की चौपाल में लगती थी। पाठशाला का बाहरी ठाट-बाट कुछ अधिक भड़कीला न था। दूर से जब मैंने वह चौपाल देखी थी, तो मुझे संदेह हुआ था कि या तो यह किसी का अस्तबल है या पशुओं का बाड़ा। पर निकट आने पर जब मैंने उसमें लड़कों को लड़ते-झगड़ते देखा, तब दिल में इतमीनान हुआ।

पाठशाला को पंडितजी ने क़िले की तरह सुरक्षित कर रक्खा

था। आनेवाले को पहले दर्जनों बकरियों और कई गायों से सामना करना पड़ता था। यह तो मैं समझ गया कि गाएँ पंडितजी को गोदान की महिमा जाननेवाले महानुभावों की कृपा से प्राप्त हुई हैं। यह समझने के लिये मुझे अधिक अक़्ल ख़र्च करने की ज़रूरत न पड़ी; क्योंकि गाएँ इतनी दुबली-पतली और साथ ही सींग हिलाने और पैर फटकारने में इतनी कुशल थीं कि हरएक आदमी यह बात समझ सकता था। हाँ, बकरियों का मसला हल करना मेरी अक़्ल के बाहर था। नौकर से पूछने पर मालूम हुआ कि पंडितजी बकरियों का दान भी उतनी ही श्रद्धा के साथ ग्रहण करते हैं, जितनी श्रद्धा से गायों और बछियों का। पंडितजी की राय में अजा-दान का पुण्य गोदान से किसी हालत में भी कम नहीं है।

हाँ, तो क़िले में पहले गाय और बकरियों की दीवार पार करनी पड़ती थी। यदि आप जैसे-तैसे उनके सींग और खुरों से बच भी सकें, तो उनके खूँटों और रस्सियों में उलझकर गिरने से आप अपने को हरगिज़ न बचा सकेंगे। खूँटे इस प्रकार तरतीब से गड़े थे, और उनमें रस्सियाँ इस क़ायदे से बँधी थीं कि आप चाहे जितना बचा-बचाकर चलें, चाहे कितना ही फूँक-फूँककर पैर रक्खें, पर आपका पैर रस्सी या खूँटे से ज़रूर भिड़ जायगा, और आप पीठ के बल लेटकर आकाश के दर्शन करने लगेंगे।

क़िले की इस पहली दीवार को पार करते ही बेरी का एक पेड़ मिलता है। पाठशाला के मार्ग में यह वही काम करता है, जो काँटेदार तार क़िले के आस-पास करते हैं। यदि कोई दुर्भाग्य से नंगे पैर आ गया, तब तो उसकी दुर्दशा की सीमा ही नहीं रहती। उस दिन मेरे नौकर की विचित्र हालत हुई। गिरते-पड़ते और अपनी मखमली टोपी को सँभालते हुए जैसे-तैसे हम लोग पहले अवरोध को तो पार कर आए। दूसरे, अर्थात् बेरीवाले अवरोध में मैं ज़रा सस्ता छूट गया, क्योंकि जूता पहने हुए था। हाँ, इतना ज़रूर हुआ कि एक सूखी शाख़ जो ज़मीन पर पड़ी हुई थी, मेरे पैरों से भिड़ गई, और उसके दो-चार काँटे मेरे घुटनों में चुभ गए। मैं बड़ी कठिनाई से इन सबको हटा सका। पर उन्होंने दो-चार जगहों से ख़ून निकाल ही दिया, दो-चार खरोंचे भी मार ही दिए, और बेचारे मोज़ों की तो दुर्दशा कर दी।

अभी यहाँ से मैं एक पग भी आगे न बढ़ा था कि सिर पर से टोपी एकदम ग़ायब हो गई। जो ऊपर को निगाह डाली, तो देखता क्या हूँ कि वह बेरी की एक निचली शाख़ में टँगी हुई झूल रही है। मैंने झट से उसे हाथ बढ़ाकर पकड़ लिया, और उससे वापस आने का आग्रह करने लगा। पर उसे उस ज़रा-सी देर में बेरी से न-जाने कितना स्नेह हो गया था कि मेरे हज़ार यत्न करने पर भी

वह न आई। अब जो मैंने उसे ज़रा जोर से खींचा, तो उसके सारे अंग ढीले पड़ गए। लगभग आधी टोपी का मख़मल टोपी का साथ छोड़कर बेरी से चिमट गया। टोपी पर जो सुनहला काम था, वह भी ग़ायब हो गया। अंत में टोपी मेरे हाथ में तो आ गई, पर बड़ी अद्भुत सूरत बनाकर।

इस दूसरे अवरोध में मुझे अपनी सहायता आप करना पड़ी थी, क्योंकि नौकर बेचारा स्वयं अपने दुःख से दुखी था। उसके पास मेरी तरह कानपुर का बना बूट जूता नहीं था, इसी से ज्यों ही उसने बेरी के नीचे पैर रक्खा, त्यों ही दो-चार सूखे-साखे काँटे उसके तलुओं में जा बैठे। बेचारा तड़फड़ाकर चट वहीं ज़मीन पर बैठ गया, और उन्हें निकाल भगाने की फ़िक्र में लगा। पर उधर उसका ज़मीन पर बैठना था, इधर दो-चार दूसरे काँटे उसके दूसरे अंगों से मुलाक़ात करने लगे। वह बेचारा ज्यों ही एक काँटा निकाल फेंकता था, त्यों ही उसके दो-चार भाई-बिरादर आ घुसते थे। वह किस प्रकार इस संकट से छूटा, यह मुझे नहीं मालूम; पर इतना ज़रूर जानता हूँ कि ज्यों ही मैं अधूरी टोपी हाथ में ले बेरी की आफ़त से बरी हुआ, त्यों ही वह भी लँगड़ाता हुआ मेरे पास आ पहुँचा था।

पर अभी कुशल नहीं थी—तीसरी दीवार तय करनी तो बाक़ी ही थी। यह था एक ज़बरदस्त नाबदान और उसकी

सहायक नदी यानी नाली। नाबदान कितना बड़ा हो सकता है, यह मैंने उसी दिन पहले-पहले देखा। नाबदान क्या था, एक अच्छा-खासा हौज़ था। बड़े-बड़े मच्छड़ों का ऐसा प्रबल झुंड उसमें किलोलें कर रहा था, मानो सारे संसार के मच्छड़ों की यहीं महफ़िल है। मेरा अनुमान है कि मच्छड़ों की सारी जातियों के नमूने वहाँ मौजूद थे। साथ ही अंडे की हालत से लेकर बुड्ढे होने तक मच्छड़ कैसे-कैसे रूप बदलता है—इसका अनुभव प्राप्त करने के लिये संसार-भर में उससे बढ़कर कोई स्थान हो ही नहीं सकता। मैं समझ गया कि पंडितजी ने अपने विद्यार्थियों को वस्तुपाठ पढ़ाने के लिये ही इस अनुपम हौज़ को ठीक पाठशाला से सटा हुआ बनवा रक्खा है।

इस हौज़ के ठीक बीचोबीच एक पतला-सा पत्थर रक्खा हुआ था। यह ढाई या तीन इंच से अधिक चौड़ा किसी हालत में न रहा होगा। इसी के द्वारा हौज़ को पार करके पाठशाला पहुँचना होता था। शायद यह आनेवाले की हिम्मत की परीक्षा के लिये था। जो कुछ हो, मैं तो इस परीक्षा के दर्शन से एकदम काँप उठा, और परीक्षास्थल को दूर से ही प्रणाम करके घर वापस जानेवाला था कि नौकर ने ढाढ़स देकर रोक रक्खा। मैंने सोचा, टोपी की तो कुगति हो ही गई है, अब धोती और कोट की भी दुर्दशा होनेवाली है। साथ ही यह भी सोचा कि यदि इस

नाबदान में कहीं डूब गया, तब तो बड़ी मुसीबत होगी—क्योंकि जान तो जावेगी ही, साथ ही भद भी होगी। पर नौकर ने उस समय बड़ा कमाल किया। एक लकड़ी के सहारे उसने मुझे दूसरे पार ऐसी सफ़ाई से खींच लिया कि न तो कोट ही ख़राब हुआ, और न डूबने ही की नौबत आई। आज से मैं उम्र-भर उसका ऋणी रहूँगा।

बस, उस नाबदान को पार करते ही मैं पाठशाला में दाख़िल हो गया। वहाँ पर विद्यार्थी ख़ूब मौजें उड़ा रहे थे। चपतबाज़ी और गुलगपाड़े का बाज़ार गर्म था। एक ओर कुछ विद्यार्थियों में ढेले भी चल रहे थे। एक बड़ा-सा विद्यार्थी बहुत ही शांत प्रकृति का मालूम होता था —वह बेचारा अकेले एक कोने में बैठा हुआ नौटंकी गा रहा था। दो-तीन छोटे-छोटे विद्यार्थी एक मेढक को कहीं से पकड़ लाए थे, और उससे, जहाँ तक मेरा ख़याल है, उछल-कूद का सबक़ सीख रहे थे। अधिक क्या कहें, सारी पाठशाला में जीवन और उत्साह की लहरें उठ रही थीं।

पर मेरे पाठशाला में प्रवेश करते ही विद्यार्थी अपने उपर्युक्त ज़रूरी कामों को छोड़कर भौचक्के-से होकर अपने-अपने स्थानों पर बैठ गए। फेफड़ों की कसरत, चपतबाज़ी इत्यादि सभी काम बंद हो गए, यहाँ तक कि मेढक भी छोड़ दिया गया। लड़कों पर उस पहले ही दिन अपना ऐसा रोब पड़ते देख मुझे जो ख़ुशी हुई, उसका वर्णन करना मेरी शक्ति

के बाहर है। मैं यह सोच-सोचकर ख़ुश होने लगा कि जब इस उम्र में मेरा ऐसा रोब है, तो बड़े होने पर कैसा होगा!

लड़कों से बातचीत करने की मेरी इच्छा तो बहुत थी, पर रोब कम हो जाने के भय से मैंने उनसे बातचीत न करके पाठशाला का मुआइना शुरू किया। मुझे अपने रोब का बहुत ही ख़याल था, इससे ज़रा अकड़कर खड़ा हो गया; ज़रा नाक-भौं सिकोड़ ली, और मुँह फुला लिया। उस समय पाठशाला की मैंने जो हालत देखी, उससे पंडितजी के मिज़ाज की सादगी की प्रशंसा ही करते बनती थी। पाठशाला कब बना था, यह तो मैं कह नहीं सकता—इतिहास जाननेवालों को इसका पता हो, तो हो—पर इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि उसके रंग-ढंग से तो यही मालूम होता था कि शायद उसने कई सदियों के मेहों के वार सहे हैं। भवन बनाने की कला का मुझे ज्ञान नहीं, नहीं तो उसकी बनावट से ही इस संबंध में अपना निर्णय देता। ख़ैर, उसकी दीवारों तथा छत के प्रत्येक भाग से बुज़ुर्गी टपकी पड़ती थी। दीवारें किसी ज़माने में बनी ख़ूब मोटी होंगी, पर सैकड़ों बार बरसात के जल से धुलकर पतली पड़ गई थीं, और उन पर एक विचित्र प्रकार की नक़ाशी बन गई थी। मेरे ख़याल में दीवारों से पंडितजी नक़शों का काम लेते होंगे, क्योंकि पहाड़, घाटियों, नदियों इत्यादि के उनमें ऐसे सुंदर रूप बने थे, जैसे आप अच्छे-से-अच्छे नक़शे में नहीं पा

सकते। भूगोल सिखाने का ऐसा सीधा-सादा ढंग देखकर मैं तो दंग रह गया।

चौपाल की छत भी अद्भुत रूप धारण कर रही थी। पता नहीं कि वह किस चीज़ की बनी थी। हाँ, सारी छत इतनी काली थी कि तारकोल से पुती हुई मालूम होती थी, पर तारकोल की-सी चमक-दमक नहीं थी। धन्नियाँ टेढ़ी तथा टूटी-फूटी होने में परस्पर होड़ लगा रही थीं। कुछ तो आज से बहुत पहले ही पंडितजी की चौपाल से असहयोग कर चुकी होतीं, यदि पंडितजी उन्हें लंबी-लंबी थूनियों की सहायता से न रोक रखते।

छत तथा दीवारों के कोने 'नेचर-स्टडी' के कमरे का भी थोड़ा-बहुत काम देते थे। सच है, वह पाठशाला पाठशाला नहीं, जिसकी एक-एक ईंट शिक्षा-दान में योग न दे। तरह-तरह की और रंग-बिरंग की छिपकलियाँ छत की शोभा बढ़ा रही थीं। मकड़ियाँ अपने जालों के आस-पास विहार कर रही थीं। उनका शायद यह ख़याल था कि पंडितजी की चौपाल उन्हीं की बपौती है। मक्खियों के झुंड-के-झुंड सारी पाठ-शाला में इधर-से-उधर मँडला रहे थे। आनेवालों से उन्हें विशेष प्रेम था, और जैसे ही कोई पाठशाला में क़दम रखता था कि उनके दो-चार ज़बरदस्त झुंड झट से उसका स्वागत करने के लिये आगे बढ़ते थे, और क्या मजाल कि जब तक वह वहाँ रहे, उसका ज़रा देर के लिये भी साथ छोड़

दें। बहुत-सी तो उसके जाने पर उसे दूर तक भेजने भी जाती थीं, और कोई-कोई तो प्रेम से बँधकर उसके घर तक उसका साथ नहीं छोड़ती थीं। वास्तव में यदि किसी को सच्चे प्रेम का सबक़ सीखना है, तो वह नन्हू पंडित की पाठशाला की पालतू मक्खियों से सीखे।

भिड़ें भी उस चौपाल के अंदर मौजूद थीं। एक कोने में उनका भी एक ज़बरदस्त छत्ता शोभा दे रहा था। पढ़ते समय लड़कों की आँखें प्रायः उसी ओर गड़ी रहती थीं। पंडितजी प्रायः सज़ायाफ़्ता लड़कों को उसी कोने में बैठालते थे। मधु-मक्खियाँ भी वहाँ आई-गई बनी रहती थीं। और चाहे जो कुछ हो, लड़कों को वहाँ 'नेचर-स्टडी' सीखने का अच्छा सुबीता था।

छत और दीवारों पर से जो मेरी निगाह नीचे पड़ी, तब तो मैं पंडितजी की सादगी पर अवाक्-सा खड़ा रह गया। उस दिन मुझे मालूम हुआ कि जिस प्रकार धोबी से कपड़े धुलाने में पंडितजी का परहेज़ है, उसी प्रकार झाड़ू से चौपाल को झुलाने में भी है। नहीं तो क्या इतने गुरु-भक्त विद्यार्थियों के रहते हुए भी पाठशाला में कभी झाड़ू न पड़ता? हाँ, यह हो सकता है कि किसी विशेष प्रकार की शिक्षा के सुबीते के लिये पंडितजी ने कूड़े-कर्कट के ढेरों को वहाँ विशेष रूप से एकत्र करा रक्खा हो। पर वह शिक्षा कौन-सी है, इसका मुझे ज़रा भी ज्ञान नहीं है। हाँ,

कूड़े-कर्कट के ढेरों से तरह-तरह के जीवों को निकलते देख मुझे ख़याल हुआ कि हो न हो, इनका संबंध प्राणि-विद्या से ज़रूर है। पर यह बात मैं पक्के तौर से नहीं कह सकता।

पंडितजी को दरी, टाट, चटाई तथा दूसरे प्रकार के बिछौनों से सख्त घृणा है। उनके-जैसे सादी तबियतवाले के लिये ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी से लड़के उसी कूड़ा-कर्कट-मंडित, विविध कीट-संकुल निखालिस ज़मीन पर ही पोथी-पत्रा और पाटी-क़लम-सहित आसन जमाते हैं। पंडितजी का कहना है कि प्राचीन काल में ठीक इसी प्रकार विद्यार्थी गुरुओं से शिक्षा-लाभ करते थे। पंडितजी की राय में बालकों में मातृभूमि के प्रति भक्ति का भाव जाग्रत् करने के लिये इससे बढ़कर और कोई तरीक़ा हो ही नहीं सकता। हाँ, यदि कोई शौक़ीन तबियत का लड़का घर से कोई बैठने की चीज़—आसन, दरी, टाट इत्यादि—ले आता था, तो पंडितजी उसे ख़ुशी से उस पर बैठने की आज्ञा दे देते थे। कुछ शौक़ीन तबियत के लड़के भी वहाँ मौजूद थे, जो प्रतिदिन आते समय टाट के टुकड़े भी पोथी-पत्रों की तरह नियमित रूप से लाते और जाते समय उन्हें साथ ले जाते थे। यदि कभी कोई भूल से टाट का टुकड़ा पाठशाला में छोड़ जाता था, तो फिर दूसरे दिन उसका मिलना असंभव हो जाता था। ऐसे मामलों में पंडितजी से शिकायत करने पर

डाट-फटकार के सिवा और कुछ भी हासिल न होता था। भला पंडितजी क्या कोई चौकीदार थे, जो किसी के टाटों की रखवाली करते ?

पंडितजी स्वयं अपने लिये भी आसन न रखते थे। पंडितजी की यह बात देखकर उनकी सराहना किए बिना नहीं रहा जाता, क्योंकि "पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे।" यह देखकर प्रसन्नता होती है कि पंडितजी जिस बात का दूसरों को उपदेश देते थे, उसे स्वयं भी निबाहते थे। हाँ, जब वह पाठशाला में प्रवेश करते थे, उस समय यदि लड़के उठ-उठकर उन्हें अपने-अपने टाट के टुकड़े दे देते थे, और यदि उनमें से वह चार-छ लेकर अपने लिये बिछवा लेते थे, तो इसमें उनका कौन दोष था ?

जान पड़ता है, मुआइना करते समय लड़कों पर से मेरा रोब किसी प्रकार कम हो गया, क्योंकि इस बीच में उनमें फिर वही पुरानी चहल-पहल मच गई। जब उनमें से एक ने अपनी जगह पर बैठे-ही-बैठे "अरे जंगी, पायँ काहे पिरवावत हौ, हियन बैठत काहे नाहीं।" कहकर अपने पास की भूमि की ओर इशारा किया, तब मैंने जाना कि मेरा सारा रोब मिट्टी में मिल गया। हाय ! हाय ! जिस रोब की रक्षा के लिये मैंने अनेक यत्न किए थे, वह इतनी जल्द धूल में मिल गया। पर तो भी उसे बनाए रखने की इच्छा से उस लड़के की बात का कुछ भी उत्तर न दे मैंने माथे पर कुछ शिकनें बना लीं। पर इसका भी

कुछ अधिक प्रभाव न पड़ा, क्योंकि ज़रा देर बाद ही एक दूसरे लड़के ने सर्दियों के पुराने अपने टाट के टुकड़े का एक कोना मेरे लिये ख़ाली करके मुझसे फिर बैठने का आग्रह किया। अंत में रोब जमता न देख मुझे उसकी बात स्वीकार कर लेनी पड़ी।

चौथा परिच्छेद

पंडितजी से भेंट

टाट के कोने पर बैठे-बैठे मुझे घंटों गुज़रने लगे, पर पंडितजी का शुभागमन न हुआ। बेचारा नौकर भी देहलीज़ पर ऊँघता हुआ बैठा रहा। इस बीच में पाठशाला के सारे विद्यार्थियों से मेरा परिचय हो गया। मुझे यह भी मालूम हुआ कि इस समय कई विद्यार्थी पंडितजी की भिन्न-भिन्न आज्ञाओं का पालन करने के लिये बाहर गए हुए हैं, जो शायद शाम के पहले न लौटेंगे।

उस दिन मुझे जितने विद्यार्थी मिले, पाठशाला से सभी असीम प्रेम रखते थे। किसी दूसरी पाठशाला का ज़िक्र आते ही वे मारने दौड़ते थे। उनकी राय में संसार-भर में नन्हू पंडित की पाठशाला से बढ़कर और कोई पाठशाला ही नहीं थी। पर तो भी पंडितजी के आने के लिये वे अधिक फ़िक्रमंद न थे। जब-जब मैं पंडितजी के आने का ज़िक्र उठाता था, तब-तब वे उस बात को टालकर कोई दूसरी बात करने लगते थे।

जब पंडितजी बड़ी देर तक न आए, और देर तक अनेक प्रकार की गंधों का सामना करने के बाद जी मतलाने और

दिमाग़ भन्नाने लगा, तब मैंने अपने नवीन मित्रों से बाहर निकलकर खेलने का प्रस्ताव किया। बाहर निकलने का नाम सुनते ही सब-के-सब सहम गए, और कोई-कोई तो काँपने लगे। मालूम हुआ कि पंडितजी और सब कुछ सह सकते हैं, पर अपने विद्यार्थियों का पाठशाला के बाहर जाना (यदि वह स्वयं उन्हें अपने काम से न भेजें) किसी हालत में नहीं सह सकते। उसी समय मुझे ऐसा मालूम हुआ कि बदबू का ज़ोर बढ़ गया। बाहर मच्छड़ भी एकाएक अधिक ज़ोर से गाते हुए मालूम होने लगे, और मक्खियों का प्रेम तो असह्य हो उठा। मैंने उसी क्षण प्रण कर लिया कि अब यहाँ न बैठूँगा, पंडितजी चाहे प्रसन्न हों, चाहे अप्रसन्न।

मैंने उसी क्षण एक तरकीब दृढ़ निकाली। अपने साथियों से कहा कि बाहर चलकर अगर हम लोग बकरियों को खोल दें, और उनके पीछे दौड़ना शुरू कर दें, तो बाहर की हवा भी खा सकते हैं, और मार से भी बच जायँगे। यदि पंडितजी पूछेंगे, तो उनसे कह देंगे कि आपकी बकरियाँ भागी जा रही थीं, उन्हीं को पकड़ने के लिये हम लोगों को बाहर आना पड़ा। मैंने यह भी कहा कि यदि इतने पर भी किसी लड़के को डर लगता हो, तो वेष बदलकर चल सकता है, जिससे हज़ार कोशिश करने पर भी पंडितजी उसे न पहचान सकें। मेरी बात सबको बेहद पसंद आई,

और सब बाहर चलने को तैयार हो गए। वेष बदलने-वाली बात यद्यपि मैंने मज़ाक़ में ही कही थी, पर उसे लड़कों ने बहुत पसंद किया, और बहुत-से उसके लिये भी तैयार हो गए। इस प्रकार लड़कों ने मेरी बातें मानकर पाठशाला में मेरे जीवन के पहले ही दिन मेरा मुखिया होना स्वीकार कर लिया। खूब रही।

लड़के मुझसे वेष बदलने का तरीका पूछने लगे। मुझे उनके बोदेपन पर हँसी आने लगी। लड़कों ने तरह-तरह के रूप बनाए। किसी ने टाट ओढ़ा, किसी ने बस्ते को कंटोप का रूप दे अपना सिर ढक लिया, किसी ने काग़ज़ की लंबी टोपी बनाकर धारण की, और किसी ने धोती से अपने शरीर को सिर से पैर तक छिपा लिया। किसी ने मुँह पर कोयले की पालिश चढ़ाकर ही संतोष किया। जिनसे और कुछ न बन पड़ा, उन्होंने वहाँ पड़ी हुई धूल में लोटकर अपने शरीर का रंग बदल लिया। हाँ, मैंने तथा दो-चार और लड़कों ने वेष बदलने की आवश्यकता न समझी।

हम लोग एक-एक करके दरवाज़े के बाहर खिसकने लगे। नौकर बेचारा देहलीज़ पर पैर फैलाए सो रहा था। हमने उसे छेड़ने की ज़रूरत न समझी। लड़कों ने मुझे भी सफ़ाई से नाबदान पार करा दिया। पशुओं के पास पहुँचकर हम लोगों ने सारी बकरियाँ तथा उनके बच्चे खोल दिए। फिर गायों का नंबर आया। एक को छोड़ वे भी सब खोल दी गईं। फिर

तो बड़ा आनंद आया। हम लोग उन्हें इधर-से-उधर खदेड़ने लगे। कोई किसी ओर को भागी, और कोई किसी ओर को। अंत में उनका पीछा करना छोड़कर हम लोग गुल्ली-डंडा खेलने लगे। बड़ा लुत्फ़ रहा।

खेल अभी अच्छी तरह शुरू भी न हो पाया था कि इतने में एक लड़के ने फुसकार-सी छोड़ी—"पंडिज्जी आ रहे हैं।" लड़कों में सन्न पड़ गई। सब मेरे मुँह की ओर ताकने लगे। मैंने जो नज़र उठाई, तो दूर पर एक नंगा-धड़ंगा आदमी पत्तों का बोझ बग़ल में दबाए आता हुआ दिखलाई पड़ा। धोती और टोपी के सिवा उसके बदन पर कोई कपड़ा न था। पैर में जूता भी न था। फिर भला ऐसी सूरत को मैं 'पंडितजी' कैसे मान लेता? मैंने कहा कि यह मनुष्य पंडितजी हर्गिज़ नहीं हो सकता, यह तो कोई घसियारा है। इस पर कई एक लड़के सहमे हुए बोले कि नहीं, यही पंडितजी हैं। उसी समय मुझे यह भी मालूम हुआ कि ख़ास मौक़ों को छोड़कर पंडितजी का अँगरखा खूँटी से नहीं उतरता, और न जूते ही चारपाई के नीचे से निकलते हैं। तब कहीं जाकर मुझे यक़ीन हुआ कि पंडितजी आ रहे हैं।

मेरा कार्य-क्रम तो पहले ही से तय था, उसी के अनुसार काम होने लगा। गुल्ली-डंडा खेलना बंद करके हम सब बड़ी ही मुस्तैदी से, चोटी का पसीना एड़ी तक बहाते और साक्षात् गुरु-भक्ति का अवतार बने हुए पंडितजी की

बकरियों और गायों के पीछे दौड़ने लगे। हम लोग उन्हें पकड़ने में इतना उत्साह, इतनी मुस्तैदी और इतनी फुर्ती दिखलाने लगे, मानो उन्हीं के पकड़े जाने पर सारे संसार की कुशल-क्षेम निर्भर है।

निदान पंडितजी नज़दीक़ आए। उन्होंने जो यह रंगत देखी, तो सन्नाटे में आ गए। मुझे तो ऐसा जान पड़ा कि उनके मुँह से बोल फूटना भी कठिन हो गया। जैसे-तैसे आपने जी सँभालकर अपने विश्वस्त शिष्यों के नाम ले-लेकर पुकारना शुरू किया—"अरे ओ लासादिनवा रे! बकरी कौने खोली है?" फिर आवाज़ हुई—"अरे घुरैया रे! बछिया काहे दौरावत है रे।" पर कोई उत्तर न मिला। संभव था, बकरियों के प्रेम से विकल हो पंडितजी ग़श खा जाते, यदि मैं उनकी दुर्दशा देखकर एक बकरी खदेड़ता हुआ उनके पास न जा पहुँचता। मेरे दर्शन से उनके होश-हवास बिगड़ने नहीं पाए, क्योंकि मुझे पहचानते ही वह चट से बोल उठे—"अरे जंगेवा, यहाँ कहाँ?" अपने सुंदर नाम की ऐसी दुर्दशा होते देख मुझे बड़ा दुख हुआ, पर यह सोचकर सब्र कर लिया कि ऐसी कौन-सी पाठशाला है, जहाँ विद्या के साथ-साथ दुख न हो। अंत में मैंने पंडितजी से सारा हाल कह सुनाया। पाठशाला में मेरा आना सुनकर पंडितजी मारे ख़ुशी के नाच उठे। पर बकरियों की याद आते ही बेचारे का दिल दहल उठा। इस मामले में भी

मैंने उन्हें दिलासा दिया, और लड़कों की गुरु-भक्ति की प्रशंसा करते हुए उनके शीघ्र पकड़े जाने की उम्मेद दिलाई। पंडितजी दुबारा हर्ष के मारे नाच उठे, और बग़ल के गट्ठे का नचाते हुए मुस्किराकर बोले—"हमारे सारे लरिकवा ऐसेई हैं।" फिर पंडितजी ने पूछा कि ये खुलीं कैसे ? मैंने कहा कि यह तो नहीं मालूम, न-जाने कौन दोपहर में यहाँ आकर उन्हें खोल गया। अब तो पंडितजी लगे ताव-पेच खाने—"हैं, कौनो खोलिगा ! कौन खोलिगा अरे जंगेवा ?" मैंने कहा—"क्या पता पंडितजी ! आप ही सोचिए ! अड़ोस-पड़ोस में आपका कोई दुश्मन तो नहीं रहता ?" पंडितजी ने छूटते ही कहा—"अरे जानि गयों, भुल्लेवा सारे की कारस्तानी होइहै। अच्छा, देखिहौं सारे का।"

इस बातचीत में वह बकरी, जिसे मैं खदेड़ रहा था, हमसे कुछ दूर जाकर हरी-हरी दूब चरने लगी। मालूम होता था कि पंडितजी को उससे बहुत स्नेह था। इसी से जैसे ही उस पर उनकी नज़र पड़ी, उन्होंने पत्तों का गट्ठा ज़मीन पर पटक दिया, और उसकी तरफ़ बेलगाम घोड़े की तरह दौड़ पड़े। पर शायद बकरी को पंडितजी से अधिक स्नेह नहीं था, क्योंकि पंडितजी अपने चरण-कमलों का कष्ट देते हुए जैसे ही उसके पास पहुँचे, वैसे ही वह भाग खड़ी हुई। अब तो पंडितजी की और बकरी की अच्छी-ख़ासी दौड़ होने लगी ! कभी 'सौ गज़ की दौड़' का मज़ा आता;

और कभी 'एक मील की दौड़' का। दौड़ते-दौड़ते एक दफ़ा पंडितजी के पैर में काँटा चुभ गया, तब तो 'एक टाँग की दौड़' का मज़ा आने लगा। दौड़ते-दौड़ते एकाएक ऐसा

जान पड़ा, मानो पंडितजी अचानक अंतर्धान हो गए। पंडितजी बकरी के पीछे जाते समय मुझसे पत्तियों के गट्ठे को देखते रहने की ताकीद कर गए थे; इससे, इच्छा

रहते हुए भी, पंडितजी को देखने न जा सका। जब पंडितजी बड़ी देर तक दिखाई न दिए, और जहाँ अंतर्धान हुए थे, वहाँ से एक प्रकार की आवाज़-सी आने लगी, तब तो मैं उस गट्ठे को छोड़कर जाने पर आमादा हो गया। पर दैवयोग से उसी समय पंडितजी का पक्का शागिर्द लासादीन वहाँ आ पहुँचा। वह पंडितजी से कहने आया था कि एक बकरी दौड़-धूप में एक कुएँ में गिर पड़ी। निदान, लासादीन से वह गट्ठा लदवाकर, उसे साथ ले मैं उस ओर गया, जिधर पंडितजी एका-एक ग़ायब हो गए थे। वहाँ पहुँचकर क्या देखता हूँ कि पंडितजी एक अंधे कुएँ में खड़े हुए आवाज़-पर-आवाज़ लगा रहे हैं। पर बेचारे का गला ऐसा बेसुरा हो रहा था कि सुनकर यह समझना कठिन था कि पंडितजी बोल रहे हैं, या कोई आदमी फूटा घड़ा बजा रहा है। ख़ैरियत हुई कि न तो कुएँ में पानी ही था, और न वह अधिक गहरा ही था, नहीं तो शायद पिताजी को मेरी पढ़ाई के लिये कोई और ही फ़िक्र करनी पड़ती। पंडितजी हम लोगों को देखते ही चिल्लाना बंद करके कुआँ बनवानेवाले को गालियाँ देने लगे, और फिर उसी साँस में अपने पड़ोसी कल्ली का भी एक नवीन ही ढंग से 'गोत्रोच्चारण' करना शुरू किया। पर उसी समय एक महो घटना ने कुछ समय के लिये पंडितजी का ध्यान हमारी ओर फेर दिया। मूर्ख लासादीन ने अपना बोझ उतारकर उस विना जगत के

कुएँ के किनारे ही डाल दिया था। इधर मैंने पंडितजी की बातों का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिये उस पर हाथ टेककर जो कुएँ के अंदर झाँका, तो वह पत्तियों का गट्ठा बिना किसी प्रकार की सूचना दिए एकदम कुएँ के अंदर हो रहा। यदि सँभल न गया होता, तो मुझे भी उसके साथ ही उस तंग जगह में पंडितजी का मेहमान बनना पड़ता। तो भी उस समय मैं इतना घबरा गया था कि यह भी न देख सका कि पंडितजी से उस गट्ठे की किस प्रकार मुलाक़ात हुई।

थोड़ी देर बाद जब मेरे हाश-हवास दुरुस्त हुए, तो मैंने झाँककर पंडितजी से पूछा कि गट्ठा लगा तो नहीं! पर पंडितजी अब तक पड़े कराह रहे थे। मेरी बात सुनते ही उठ बैठे, और लगे चिल्ला-चिल्लाकर बक-झक करने।

दूसरे लड़कों को इस मामले की गंध न-जाने किस प्रकार लग गई—वे भी वहाँ पर एक-एक करके एकत्र होने लगे। प्रायः सभी समझदार लड़कों ने एक-एक करके पंडितजी से कुशल-प्रश्न किया। अंत में यहाँ तक नौबत पहुँची कि पंडितजी कुशल-प्रश्न करनेवालों पर बेतरह नाराज़ होने लगे। एक बात से तो बड़ा ही लुत्फ़ आया। वेष बदले हुए लड़के उस समय वेष बदलने की बात भूल-से गए, और उन्हीं बनाए हुए रूपों में कुएँ के चारो ओर दीवार-सी बनाकर खड़े हो गए। झुटपुटा अँधेरा और शाम का समय तो था ही,

पंडितजी की नज़र जो उन पर पड़ी, तो बेचारे घबरा उठे, और 'भूत', 'भूत' चिल्लाने लगे। बेचारे इन विचित्र रूपों को देखकर समझ गए कि भूतों के झुंड ने उन्हें घेर रक्खा है। उनसे उस समय और कुछ करते-धरते न बना—अस्फुट स्वर से 'ओं','ओं' कहने लगे। इधर हँसते-हँसते हम लोगों के पेट फूलने लगे; यहाँ तक कि छोटे-से-छोटे और बोदे-से-बोदे लड़के भी हँसी न रोक सके। थोड़ी देर बाद पंडितजी ने एक बार क्षण-भर के लिये फिर ऊपर देखा—शायद यह देखने के लिये कि भूत-वृंद अभी तक मौजूद है या चला गया—और फिर तत्क्षण आँखें बंद कर हाथ जोड़ बोले—"तुम सब जने चाहे जो होउ, हमें छोड़ि देउ। हम तुमका सवाउ रुपैया (सवा रुपए का नाम पंडितजी ने ख़ूब दिल कड़ा करके कहा होगा) का परसाद चढ़ैबे।"

इतने में हमारा नौकर आँखें मलता उधर से आता दिखाई दिया। शाम तो हो ही गई थी, इससे हमने उसे पंडितजी के कुएँ में गिरने का हाल बतलाकर तुरंत एक रस्सी लाने को कहा। रस्सी तो आ गई, पर पंडितजी बाहर आने के लिये तैयार न हुए। निकलने का अनुरोध करने पर वह बार-बार यही उत्तर देते थे कि बाहर आने पर हम लोग उन्हें खा डालेंगे। अंत में उन्हें किसी प्रकार बाहर निकलता न देख हम लोग अपने-अपने घर

वापस आए । दूसरे दिन मालूम हुआ कि पंडितजी को गाँव के दो-चार भले आदमियों ने बड़ी कठिनाई से बाहर निकाला ।

पाँचवाँ परिच्छेद

पंडितजी से दूसरी मुलाक़ात

इसके बाद कई महीने तक पाठशाला जाने की नौबत न आई। मालूम हुआ कि पंडितजी बीमार हैं, इससे पिताजी ने जाने के लिये मुझे मना कर दिया था। इस बीच में पंडितजी की बीमारी के संबंध में तरह-तरह की ख़बरें सुनने में आईं। कोई कहता था कि पंडितजी को भूतों ने घेरकर एक अंधे कुएँ के अंदर धर पटका, तभी से वह बीमार हैं। कोई कहता कि पंडितजी को रात के समय चुड़ैलें सताया करती हैं, तभी बेचारे की यह दशा है। कुछ कहते कि उन पर परियों की साया पड़ गई है। इसके सिवा नज़र लगना, पानी पीते समय मेंढक निगल जाना तथा कुल्ली नाई का पंडितजी को मारने के लिये टोने-टोटके करना, ऐसी अनेक बातें पंडितजी की बीमारी की समस्या हल करने के लिये पेश की जाती थीं। यह भी सुनने में आया कि पंडितजी की कई एक बकरियाँ न-जाने कहाँ खो गईं, इसी से उनके दिल को सख़्त सदमा पहुँचा—बस, यही उनकी बीमारी का मुख्य कारण है। इन सब बातों को सुन-सुनकर पंडितजी के दर्शनों के लिये मेरी बहुत

इच्छा होती थी, पर क्या करता, लाचार था। हाँ, पिताजी जब-तब पंडितजी की तबियत का हाल पुछवा लिया करते थे।

पंडितजी से मुलाक़ात करने की इच्छा ने एक दिन ऐसा ज़ोर मारा कि पिताजी की आज्ञा की कुछ भी परवा न करके मैं उनसे मिलने के लिये चंपत हो गया। पंडितजी का मकान यद्यपि अधिक दूर नहीं था, पर तो भी मैंने संतू को साथ ले लिया। संतू भी पाठशाला में भरती होनेवाला ही था, इससे पाठशाला देखने की इच्छा से वह छिपकर मेरे साथ हो लिया, नहीं तो शायद उसकी मा उसे मेरे साथ न जाने देती। निदान हम दोनो लगभग दोपहर के समय सबकी आँख बचा गुरु-भक्ति की धुन में पंडितजी के मकान की ओर चल दिए।

रास्ते में लासादीन के दर्शन हुए। मालूम हुआ कि पाठशाला बिलकुल बंद थी। यह भी मालूम हुआ कि पंडितजी ने दवा-दारू के लिये पंडिताइन को पीहर से बुलवा लिया था। यह सुनकर कि हम लोग पंडितजी के दर्शन के लिये जा रहे हैं, वह भी हमारे साथ हो लिया। उसकी ज़बानी यह भी मालूम हुआ कि बीमारी के समय पंडितजी से मुलाक़ात करना ज़रा टेढ़ी खीर है, क्योंकि ऐसे मौक़े पर उनका जो शिष्य बिना किसी प्रकार की दान-दक्षिणा लिए जाता है, उससे वह हर्गिज़ नहीं मिलते और अगर भूल से मिल भी लेते हैं, तो उसे बेहद जली-कटी सुनाते हैं, और कभी-कभी तो मार भी बैठते हैं। मेरे लिये यह एक नई समस्या उठ खड़ी हुई, जिसका

मुझे स्वप्न में भी खयाल न था। संतू और हम तो घर से छिपकर आए थे, इस कारण हम लोग तो घर से कुछ ला नहीं सकते थे। लासादीन से मैंने बहुतेरा कहा कि अपने ही घर से एक छोटा-सा सीधा लेते चलो, पर उस दरिद्र ने एक न सुनी। अंत में मुझे दूसरे ही प्रकार इस समस्या को पूर्ति करनी पड़ी।

पास ही तरकारियों का एक सुंदर खेत लहलहा रहा था। बस, उसे देखते ही मैं फूल उठा। राय हुई कि सीधा-पिसान की जगह पांडेजी के लिये कुछ तरकारियाँ ले चली जायँ। संयोग से खेतवाला वहाँ न था। फिर क्या था, हम लोग धोती की फेंटें खोल, झोले बना, उन्हें तरह-तरह की तरकारियों से भरने लगे। लासादीन को मूली और मिरचों से बहुत स्नेह था, हर दफ़े उसका हाथ उन्हीं पर पड़ता था। बहुत कहने-सुनने से उसने दस-बीस भिंडियाँ भी तोड़ीं। संतू भी मिरचों ही पर आशिक़ था, और ढूँढ़-ढूँढ़कर लाल-ही-लाल तोड़ता था। मैंने भी बहुत कुछ एकत्र किया, पर काम फुर्ती से होता न देख पूरे-पूरे पौदे ही जड़ से उखाड़ने लगा। संतू और लासादीन ने भी मेरा अनुकरण किया, और थोड़ी ही देर में हमारे झोले इतने भर गए कि गट्ठों को मात करने लगे।

हम लोग अपना-अपना बोझ लेकर अभी चले ही थे कि इतने में एक लड़का डाकगाड़ी की तरह दौड़ता हुआ हमारे पास आया, और हम लोगों पर चोरी का अपराध मढ़ने लगा। मैंने उसे बहुतेरा समझाया-बुझाया, उसे डराने की इच्छा से

यहाँ तक भी कहा कि नन्हू पंडित की आज्ञा से ही हम लोग तरकारियाँ लेने आए थे, पर उसने एक न मानी और 'बप्पा !', 'बप्पा !' चिल्लाता हुआ अपने घर की ओर दौड़ा। मालूम हुआ, उसका बाप दोपहर में खेत अपने सपूत को तकाकर रोटी खाने घर गया था। मैंने भी सोच लिया कि अब जो मज़ा जल्दी चलने में है, वह धीरे चलने में नहीं। अपनी-अपनी झोलियाँ कुछ-कुछ हल्की करके हम लोग जल्दी से पंडित-जी के यहाँ चल दिए, और थोड़ी देर में उनके दरवाज़े पर जा पहुँचे।

दरवाज़ा अंदर से बंद था। हम लोगों ने सैकड़ों आवाज़ें लगाईं, और सैकड़ों बार खटखटाया, पर न खुला। पंडितजी को यह भेंट देनी बहुत ज़रूरी थी, पर क्या करता, कुछ समझ में न आया। हाँ, लासादीन ने जब यह बतलाया कि पंडितजी के घर की दीवार एक तरफ़ इतनी नीची है कि उधर से कोई भी भला आदमी सहज में ही घर में पहुँचा सकता है, तब मुझे कुछ शांति मिली। यह जानकर कि लासादीन को उधर से आने-जाने का अभ्यास भी है, मुझे और भी तसकीन हुई। पलक-मारते ही हम लोग पंडितजी के क़िले के उस कमज़ोर भाग पर पहुँच गए। लासादीन को थोड़ी देर के लिये सीढ़ी का काम करना पड़ा। मैं उसके कंधों पर खड़ा होकर पलक-मारते ही दीवार पर जा बैठा। पर बेचारा संतू न चढ़ पाया, इससे उसके पास की तरकारियाँ लेकर हम लोगों ने उसे घर भेज

दिया। फिर लासादीन चढ़ आया, और अंदर की ओर हो रहा। उसने हमें उस पार आँगन में उतार लिया।

लासादीन को थोड़ी देर के लिये सीढ़ी का काम करना पड़ा।

आँगन में पहुँचते ही मुझे एक प्रकार की बड़ी ही विचित्र

आवाज़ सुनाई दी। आँधी-पानी आने से पहले जैसे बादल थोड़ा-थोड़ा गरजते हैं, यह आवाज़ ठीक उसी तरह की थी। मैं डरा कि कहीं पानी न बरसने लगे, जो मुसीबत आ पड़े। पर पास ही छप्पर के अंदर जो नज़र पड़ी, तो इतमीनान हो गया। आवाज़ बादलों के गरजने की नहीं, किंतु पंडितजी के ख़र्राटे मारने की थी। पंडितजी से कोई चार क़दम की दूरी पर पड़ी हुई पंडिताइनजी भी उस आवाज़ में स्वर मिला रही थीं।

पंडितजी को जगाने के लिये मैंने एक-दो हाँकें भी लगाईं, पर वह न जागे। अब तो मुझे कुंभकर्ण की छमाही नींद की याद आने लगी। पहले तो मेरे दिल में आया कि पंडितजी को जगाने के लिये मैं भी उन्हीं उपायों का सहारा लूँ, जो युद्ध के अवसर पर कुंभकर्ण को जगाने के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुए थे; पर पंडितजी के ख़फ़ा हो जाने के भय से ऐसा करने का साहस न हुआ। उन्हें जगाना अधिक आवश्यक भी नहीं था; केवल भेंट ही तो देनी थी, और उपहार देनेवालों का नाम बाद को बतलाया जा सकता था। सोचा, उपहार यों ही छोड़कर चला जाऊँ, पर इसमें यह डर था कि पंडितजी शायद उसे देख न पावें। अंत में मैंने एक युक्ति सोच ही तो निकाली। यह तय हुआ कि सारी सामग्री पंडितजी के इर्द-गिर्द उन्हीं की चारपाई पर जमा कर दी जाय। अंत में ऐसा ही किया गया। मैंने और लासादीन

ने सारी-की-सारी तरकारी पंडितजी के बिस्तरे पर जमा कर दी। उस समय पंडितजी की जो अद्भुत शोभा हुई, उसका वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है।

तरकारी ठिकाने से लगाकर हम लोग घर चलने की तैयारी कर ही रहे थे कि इतने में बाहर से पंडितजी का नाम ले-लेकर हाँक-पर-हाँक आने लगी। साथ ही तरकारी का भी कुछ जिक्र होने लगा। अब तो मैं सहम गया, और बाहर भागने की बात भूलकर वहीं पंडितजी के क़िले में छिपने का स्थान ढूँढ़ने लगा। लासानी बड़ी चतुराई कर बिना कुछ कहे-सुने चट से पंडितजी की चारपाई के नीचे जाकर चित लेट गया। किंतु बाहर से आनेवाली आवाजें ज्यों-ज्यों तेज होती जाती थीं, मेरी व्यग्रता बढ़ती जाती थी। अंत में एक अँधेरी, बेकिवाड़ों की कोठरी के एक कोने में मुझे भी आश्रय मिल ही गया, पर जरा दिक़्क़त के बाद। जाते समय, अँधियारे में, मैं मिट्टी के बर्तनों के एक विशाल दल में ऐसा बुरा फँसा कि जान बचाना कठिन हो गया। पग-पग पर बर्तनों के मीनार लुढ़क-लुढ़ककर मुझ पर वार करने लगे, और पृथ्वी पर गिर-गिरकर तथा एक-दूसरे से बिगड़-बिगड़कर बम के गोलों के फूटने का मज़ा दिखलाने लगे। इसी बीच में मेरी इच्छा के विरुद्ध पंडिताइनजी जाग ही पड़ीं और 'बिल्ली-बिल्ली!' की आवाज लगाती हुई कोठरी में दौड़ पड़ीं। मैं भी झटपट दो और बर्तनों से मोर्चा लेता हुआ कोने में पहुँच गया।

वहाँ देखा, भूसे का अंबार लगा हुआ है। चित्त बड़ा प्रसन्न हुआ, और ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ उसी में घुस बैठा।

बाहर से आवाज़ों का आना क्रम से उन्नति करता हुआ ज्यों-का-त्यों जारी था। कभी-कभी तो एक ही दफ़ा कई आवाज़ें आती थीं। आश्चय है कि पंडिताइनजी उन्हें न सुन सकीं। वह ज़मीन में टटोल-टटोलकर मट्ठा, राब, चावल इत्यादि के नाम बड़े उदास चित्त से ले रही थीं और सारी बिल्ली-जाति तथा उनके पालनेवालों से इस पृथ्वी को ख़ाली कराने का फ़िक्र में थीं, इसी से शायद उन्हें बाहर की आवाज़ें न सुनाई पड़ीं। पर जब बाहर दरवाज़ा तोड़ने का प्रस्ताव होने लगा, और इसकी सूचना पंडितजी को दी जाने लगी, तब तो पंडिताइनजी के भी कान खड़े हो गए। अब वह बिल्ली-जाति के प्रति अपना हृदय खोलना बंद करके पंडितजी को जगाने दौड़ीं। वहाँ पहुँचकर नहीं मालूम क्यों वह पंडितजी को जगाना तो भूल गईं, और लगीं उनको ऐंड़ी-बेंड़ी सुनाने—

"कइस मानुस है। तरकारी खटेवा पर धरन कै अउर कउनौ ठउरै नाँई मिलत है। हाय यहिके गुनन ते तौ हमार जिउ पाकिगा है!"

इन दर्द-भरे शब्दों के बाद पंडिताइन ने उन तरकारियों के नाम ले-लेकर अपने भाग्य की दुहाई दी। दो-एक

बार माथा भी ठोंका, और मा-बाप को भी एक-आध खरी-खोटी सुनाई, तब कहीं पंडितजी के जगाने का नंबर आया।

खैर, पंडितजी जागे। उस समय मेरी बहुत इच्छा होती थी कि उनके मुखारविंद की एक झलक पा जाता, पर लाचार था। पंडितजी का जागना ही था कि पंडिताइनजी गरज-गरजकर फिर बरसने लगीं।—"जलम-करम मा तरकारी लाएउ तौनु ओही पर पौढ़ि रहेउ। तुमका सरम छुइ नाँई गई है।"

पंडिताइनजी के मुख से इस प्रकार की सैकड़ों बातें, बाहर के लोगों की आवाजें तथा अपने घर के परमप्रिय किवाड़ों का खटखटाना सुनकर पंडितजी यदि मूर्च्छित नहीं तो सहम तो अवश्य गए होंगे, तभी तो इतना सब होते हुए भी उनके श्रीमुख से एक भी शब्द सुनाई न दिया। बहुत देर के बाद, बहुत धीमे स्वर में आपके मुँह से सुनाई पड़ा—"हाय दैया! दिन-दुपहरी डाका पड़न लाग।" यह कहते हुए आप जल्दी से चारपाई से उठे और जिस कोठरी में मैं छिपा हुआ था, उसी में आ पहुँचे। पंडितजी का कोठरी में जाते देख पंडिताइनजी आग-बबूला हो उठीं, और लगीं गालियों की बौछार करने। पर पंडितजी को इन बातों की बिलकुल ही परवा न थी—वह तो धुन बाँधे मेरे आश्रित कोने की ओर विचित्र ढंग से कुछ बड़बड़ाते हुए चले आ रहे थे।

"अरे गजब ! खटिया के नीचे डाकू ! अरे गजब ! दुआरे डाकू !!" अब भेद मेरी समझ में कुछ-कुछ आने लगा। इसी बीच में पंडितजी का पैर फिसल पड़ा—बाद को मालूम हुआ कि यह उस राब की गगरी थी, जिसे मैंने उलट दिया था—और उनकी सारी देह राब से लत-पत हो गई। पर पंडितजी ने हिम्मत न छोड़ी, और झट उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ मैं टिका हुआ था। वहाँ आते-ही-आते पंडितजी भूसे में पैर धँसाकर बैठ गए, और लगे अपने ऊपर भूसा उड़ेलने। अब मैं समझा कि पंडितजी भी मेरी तरह छिपने की कोशिश में हैं।

पंडितजी अभी अच्छी तरह छिप भी न पाए थे कि उनकी निगाह मुझ पर पड़ गई। सच कहता हूँ, पाठको, जिस प्रकार खिंची हुई कमान से तीर भागता है, मेरे पास से पंडितजी उसी प्रकार भाग खड़े हुए। कोठरी की दशो दिशाओं में भूसे का तूफ़ान उड़ाते हुए आपने ऐसी ज़बरदस्त दौड़ लगाई कि मुझे तो उनकी शक्ति देखकर आश्चर्य होने लगा। यही नहीं ; चीख़ भी आपने ऐसी कसकर लगाई—और ऐसे स्वर से लगाई—कि उसका धक्का कोसों तक पहुँचा होगा। कोठरी की दीवारें तो हिल गईं और बहुत संभव था कि गिर गई होतीं, यदि पंडितजी उसी क्षण बाहर न चले जाते। आँगन में पहुँचकर भी पंडितजी ने चीख़ना जारी रक्खा—हाँ, आवाज़ ज़रा और ज़ोरदार कर दी, और ध्वनि थोड़ी-थोड़ी देर बाद बदलने लगे।

पंडितजी ने अपनी मर्म-भरी वाणी में डाकुओं द्वारा अपने घर का घेरा जाना गाँववालों को भली भाँति समझा दिया, और बड़े ही करुणा-भरे स्वर में उनसे तत्काल सहायता देने की प्रार्थना की। इस दिन दोपहर के डाके ने गाँव-भर में सनसनी पैदा कर दी, और पंडितजी के दरवाज़े पर ज़बरदस्त जमघट हो गया। दो-चार साहसी जोड़ दीवार फाँदकर अंदर आए, और बाहर का दरवाज़ा खोल दिया। अब तो सारा-का-सारा गाँव पंडितजी के आँगन में आ मौजूद हुआ। इधर मैं छिपा रहना उचित न समझ बाहर निकला, और एक पंखा लेकर पंडितजी पर हवा करने लगा। पंडितजी चीखते-चीखते इतने गर्मा गए थे कि वह मुझे ज़मीन पर बैठे पसीने से स्नान करते हुए मिले। लासादीन भी एक पंखा उठा लाया, और पंडितजी पर झलने लगा। मैंने देखा, मेरे पिताजी भी उस जमघट में बंदूक़ कंधे पर रक्खे मौजूद थे। हम लोगों से किसी ने कुछ पूछ-ताछ नहीं की। सब यही समझे कि हम लोग भी और लोगों की तरह पंडितजी की आवाज़ों से प्रेरित होकर आए हैं।

बड़ा लुत्फ़ रहा। डाकुओं की खोज हुई, पर एक भी न मिला। पंडितजी से डाकुओं का हाल पूछा गया, पर वह कुछ न बोले—केवल हमारी और लासादीन की ओर उँगली उठाने लगे। पंडितजी की शक्ल तो पहले ही से अद्भुत रूप धारण कर रही थी—राब में सना हुआ और भूसे के पर्तों से सजा

हुआ शरीर ही मज़ा दे रहा था। उसे देख-देख लोग यों ही बड़ी कठिनाई से हँसी रोक रहे थे, अब जो उन्होंने यह देखा कि गाँव के ज़मींदार के सुपुत्र को पंडितजी डाकू बतला रहे हैं, तब तो उन्हें पंडितजी के पागल होने में कोई संदेह बाक़ी न रह गया, और उन सबकी हँसी ने स्वतंत्र रूप धारण किया। पंडिताइनजी शायद मुझे नहीं देख पाई थीं, इससे वह चुपचाप सिर ढाँके एक कोने में बैठी रहीं—और पंडितजी को खरी-खोटी सुनाने के अतिरिक्त उन्होंने कुछ भी न कहा। इधर खेतवाले ने पंडितजी की चोरी का हाल सबको कह सुनाया, और उनकी चारपाई पर से तरकारी बरामद करके सबको दिखाई। पंडितजी ने बहुतेरा नहीं-नहीं कहा (अब उनमें वाक्-शक्ति आ चुकी थी) और यह फ़रमाया कि उनके सोते समय उनकी चारपाई पर न-जाने कौन सारी-की-सारी तरकारी रख गया था, पर वहाँ उस समय पंडितजी की यह बात मानने को कोई तैयार न था। पंडितजी के दिमाग़ के फिर जाने में यदि अब तक कोई संदेह था, तो वह भी दूर हो गया। किसी-किसी की तो राय हुई कि कुछ दिन उन्हें आगरे भेजकर सोंठ की मंडी की हवा खिलाई जाय, पर गर्मी के मौसम में पंडितों के दिमाग़ में गर्मी चढ़ जाना एक साधारण बात समझ लोगों ने उन्हें अपनी कृपा का पात्र नहीं बनाया, और बेचारों को यों ही छोड़कर चल दिए।

छठा परिच्छेद

बीमारी

इस मामले के बाद दूसरे ही दिन सुनाई पड़ा कि पंडित-जी अपनी ससुराल चले गए हैं, और वहीं स्थायी रूप से रहने का प्रबंध कर रहे हैं। इस खबर से मुझे बड़ा ही दुख हुआ, क्योंकि मुझे स्वप्न में भी यह खयाल न था कि मेरी मुलाक़ात का ऐसा बेढब नतीजा होगा। उधर पिताजी को भी हमारी शिक्षा की फ़िक्र पड़ गई, और उन्होंने ख़ुद मेरी पढ़ाई का भार अपने ऊपर लिया। अब तो मेरी मुसीबत आ गई। खेलना-कूदना तो ऐसा छूट गया, जैसे विधवा के माथे से सिंदूर। दिन-रात पढ़ने-लिखने का ऐसा बुरा पचड़ा लगा कि मैं दुबला पड़ने लगा, और छ महीने बीतते-बीतते बीमार पड़ गया।

अब तो पिताजी भी घबरा उठे, और मेरी पढ़ाई बंद करके दवा-दारू की फ़िक्र में लगे। वह समझ गए कि मेरी काठी इस योग्य नहीं है कि पढ़ाई का बोझ उठा सके। उन्होंने पड़ोस के शहर से मेरी इलाज के लिये एक डॉक्टर बुलाया। यह साहब थे तो बड़े सज्जन, पर उनकी सूरत देखकर चित्त में हास्यरस की नदी किलोलें करने लगती थी। दुबले-पतले वह

इतने थे कि मालूम होता था, किसी चतुर कारीगर ने लकड़ियों का जोड़-तोड़ मिलाकर मनुष्य की-सी सूरत बना ऊपर से खाल मढ़ दी हो। रंग आपका एकदम स्याह था। जब आप काले अलपाके का चुस्त कोट पहन, अकड़कर चलते थे, तो दूर से देखकर कोई यह निश्चय नहीं कर सकता था कि डॉक्टर साहब कोट पहने हैं, या नहीं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि डॉक्टर साहब नित्य कोबरा-बूट-पालिश का उबटन लगाते हैं, पर मैं नहीं कह सकता कि यह बात कहाँ तक सच है। हाँ, उनके चेहरे की चमक से लोगों में इस प्रकार का ख़याल फैलना असंगत नहीं है। जब पहले-पहले मुझे डॉक्टर साहब के दर्शन हुए, उस समय मुझे तीव्र ज्वर चढ़ा हुआ था। आँख खोलते ही सामने ज्यों डॉक्टर साहब को देखा, त्यों समझ गया कि यमराज का दूत मुझे लेने के लिये आ पहुँचा है। यमराज के दूतों के चित्र जो मैंने पहले देखे थे, डॉक्टर साहब की सूरत उनसे हूबहू मिल गई। वैसे ही बड़े-बड़े, साही के काँटों की तरह खड़े हुए सिर के बाल, वैसे ही बड़े-बड़े दाँत, वैसा ही रंग—कहाँ तक कहें, सभी बातें मिल गईं। ऐसी हालत में यदि मैंने उन्हें देखते ही आँखें बंद कर लीं और सिर लिहाफ़ के अंदर छिपा लिया, तो क्या बेजा किया?

'डरो मत', 'डरो मत' की दुहरी आवाज़ सुनकर भी मुझे मुँह खोलने की हिम्मत न हुई, क्योंकि मैंने सुन रक्खा

था कि शैतान बहकाकर लोगों को खा जाता है। मैंने पक्का इरादा कर लिया कि यह चाहे शैतान हो, चाहे यमराज का दूत, मैं सहज में उसके वश में न आऊँगा। इसी से जैसे-ही-जैसे 'डरो मत', 'डरो मत' की आवाज़ें आती थीं, वैसे-ही-वैसे मैं लिहाफ़ को अपने बदन के इर्द-गिर्द और भी ज़ोर से लपेटता जाता था। घर के लोगों ने—यहाँ तक कि पिताजी ने भी—मुझसे मुँह खोलने का बहुत आग्रह किया, सैकड़ों प्रार्थनाएँ कीं, पर मैंने एक न सुनी, क्योंकि मुझे ख़याल था कि वही यमदूत मेरे परिचित स्वरों में मुझे आवाज़ देकर धोखे से खा जाने की फ़िक्र में है। फिर उस समय मुझसे किसी ने छेड़-ख़ानी नहीं की।

दूसरे दिन सुबह तबियत हल्की थी। अभी मैं जागकर चारपाई पर बैठा हुआ सोच ही रहा था कि पिताजी कहाँ गए कि इतने में वही पहले दिनवाली सूरत लपकती हुई मेरी चारपाई के पास आकर कुर्सी पर बैठ गई, और चट से मेरा हाथ पकड़ लिया। मुझे भागने का मौक़ा ही न मिला। अब सहायता के लिये चिल्लाने के सिवा और कोई उपाय न था। निदान, अभिमान को ताक़ पर रखकर मैं आवाज़ें लगाने लगा—"अरे दौड़ो! भाई दौड़ो! यमदूत खाए डालता है!", 'हाय रे, खाए डालता है!' मेरी आवाज़ों से सारा मकान—मकान ही क्यों, सारा मुहल्ला—गूँज उठा। पर लोगों को एकदम आते न देख मैं स्वयं अपने बचाव की

फ़िक्र में लगा। मैंने इधर-उधर देखा कि कहीं कोई लाठी या डंडा तो नहीं पड़ा है। दुर्भाग्य से कुछ नहीं मिला। तब तक सिरहाने रक्खे हुए तकिए की ओर ध्यान गया। मैंने सोचा कि जब तक कोई आता नहीं, तब तक इसी से शैतान को दूर रक्खूँ। बस, मैंने ऐसा ही किया। मेरा एक हाथ तो वह पकड़े ही हुए था, दूसरे से तकिया उठाकर मैंने उसके सिर पर भदाभद मारना शुरू कर दिया। अब तो उसने घबराकर मेरा हाथ छोड़ दिया, और लगा बाहर जाने। इससे मेरी हिम्मत दुगुनी हो गई, और मैंने उसे दूर तक भगा आने के इरादे से और भी ज़ोरदार वार करने शुरू कर दिए। इतने में पिताजी तथा और भी कई लोग आ पहुँचे। पहले तो जब लोगों ने मुझे पकड़ लिया, और उस यमदूत के हाथ जोड़ने लगे, तो मुझे बड़ा क्रोध आया; पर बाद को जब पिताजी ने कई बार, तथा घर में मा ने अनेक बार इस बात का विश्वास दिलाया कि वह यमदूत नहीं, बल्कि डॉक्टर है—तब कहीं जाकर मेरा क्रोध ठंडा हुआ।

उसके बाद डॉक्टर ने मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार शुरू किया, जैसा कोई शत्रु के साथ भी नहीं करता। संसार-भर में जितनी कड़ुई वस्तुएँ थीं, वे सब अनेक रूपों में मेरे गले के नीचे उतारी जाने लगीं। कभी गोली है, तो कभी अर्क़ है, कभी चूर्ण है, तो कभी काढ़ा है—पर कड़ुआपन सब में उसी प्रकार व्यापक था, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टि में

ईश्वर। मुझे आश्चर्य होने लगा कि क्या डॉक्टर साहब संसार की सारी कड़ुई चीजें मेरे ही ऊपर खर्च कर डालेंगे। अंत में जब न रहा गया, तो मैंने अपने दिल की बात डॉक्टर साहब से कह ही डाली—पर कुछ फल न हुआ और जो हँसी उड़ी, वह घाते में। अब तो मेरे क्रोध के पारे को ऊँचे चढ़ते जरा भी देर न लगी—बात ही ऐसी थी। मैंने भी सोच लिया कि देखें, बचा अब किस तरह मुझे दवा पिलाते हैं!

जिस कमरे में मैं बीमारी के समय रक्खा जाता था, उसके पास ही डॉक्टर साहब को भी रहने का स्थान मिला था। उसी में उनकी सारी औषधियाँ रहती थीं। मेरे दिल में एकाएक ख़याल आया कि यदि मैं उनकी औषधियों में हाथ लगा सकूँ, तो सारे दुःख दूर हो सकते हैं। पर मामला बड़ा टेढ़ा था, क्योंकि डॉक्टर साहब प्रायः दिन-भर उसी में बने रहते थे, और रात को सोते भी उसी में थे। हाँ, नहाने (डॉक्टर साहब नित्यप्रति नहाने की आवश्यकता नहीं समझते थे) और खाने (यह ज़रूरी काम दिन में तीन बार होता था, शाम की बालाई तथा फल-फलहरी से कुछ वास्ता नहीं) के लिये ज़रूर बाहर जाते थे। कभी-कभी खाना पिताजी के ही साथ खाते थे, तब मेरा और उनका भी साथ हो जाता था। दूसरे दिन मैं सुबह से ही डॉक्टर साहब के स्नान के समय की प्रतीक्षा करने लगा। लगभग नौ बजे के समय मैंने देखा कि डॉक्टर साहब का कोट-बूट, टाई-कालर और

मोज़ा-बूट-राजित शरीर एकाएक धोती-कुर्ते से सुशोभित हो गया। डॉक्टर साहब को इस रूप में देखकर मैं मारे हर्ष के फूल उठा, क्योंकि इतने शीघ्र डॉक्टर साहब के स्नान की बारी आ जायगी, इसकी मुझे अधिक आशा नहीं थी। उधर डॉक्टर साहब कुएँ पर पहुँचे, इधर मैं धीरे-धीरे उनके कमरे में पहुँचा। देखा, तो मेज़ पर दो-तीन शीशियाँ रक्खी हुई हैं—शेष डॉक्टर साहब के संदूक़ में रही होंगी। इच्छा तो थी कि सारा संदूक़-का-संदूक़ उठा ले चलूँ, पर वह इतना भारी था कि उसे ले जाना और फिर उसे छिपाकर रखना मेरे मान के बाहर था। अंत में मेज़ पर की उन्हीं दो-तीन शीशियों को फेंट और कुर्ते में छिपाकर चला आया।

पहले तो दिल में आया कि बाहर चलकर अपने पक्के चबूतरे पर दोस्तों की महफ़िल में उनका पटाख़ा छुटाऊँ, पर यह ख़याल मैंने रोक रक्खा। मैंने सोचा कि यदि इन दवाओं को डॉक्टर साहब के गले के नीचे उतरवा सकूँ, जैसा कि वह मेरे साथ करते हैं, तो बेहतर होगा। सोचते-सोचते मैंने एक तदबीर निकाल ही तो ली। मैं कितना बुद्धिमान् हूँ, यह मैं उसी दिन पहलेपहल समझा।

महराजिन ने तीन थालियाँ सजाई थीं। एक तो वही मेरी चिर-परिचित छोटी-सी थाली थी। शेष दोनो थालियाँ एक-सी थीं, पर मेरे लिये यह जान लेना कि कौन पिताजी के लिये और

कौन डॉक्टर साहब के लिये है, कोई कठिन बात न थी। पिताजी चावल नहीं खाते थे—डॉक्टर साहब चावलों पर जी-जान से फ़िदा थे। दूसरे, पिताजी सूक्ष्मभोजी थे, और डॉक्टर साहब का हाज़मा एक ज़बरदस्त चीज़ थी। वह पिताजी के कम खाने पर बहुधा हँसा करते थे, और अपनी पाचन-शक्ति का बड़ा फ़ख़्र करते थे। हाँ, यदि खाना उनकी देह में नहीं लगता था, तो इसमें उनका कौन दोष ?

ऐसी हालत में यह जान लेना कठिन न था कि डॉक्टर साहब के लिये कौन थाली चुनी गई थी। निदान, मैंने उदारता से परोसी गई भात-सुशोभित थाली को ही छाँटा, पर अभी महराजिन से निबटना तो बाक़ी ही था।

हमारी महराजिन भी एक अपूर्व चीज़ थीं। अफ़ीम का उन्हें बड़ा शौक़ था। ग़रीब होते हुए भी वह अपनी सारी कमाई अफ़ीम में ही ख़र्च कर डालती थीं। इस मामले में अगर कोई उनसे कुछ कहता था, तो सख़्त नाराज़ होती थीं। इस समय भी पीनक में बैठी हुई सिजदा-सा कर रही थीं।

मैं—महराजिन दाई ! दरवाज़े पर एक आदमी तुम्हें पूछ रहा है। कोई ज़रूरी काम है।

महराजिन—(कोई पाँच मिनट के बाद) क्या कहा बेटा ?

मैंने अपनी बात दोहराई।

महराजिन—अभी मैं किसी से न मिलूँगी। पहले बाबू को खाना तो खिला लूँ। क्या काम है ?

मैं—अच्छा, उससे जाने को कहे देता हूँ। शायद कहता था कि महराजिन के लिये अफ़ीम लाया हूँ। तो उससे कहे देता हूँ कि महराजिन अभी नहीं मिल सकतीं ?

महराजिन—ज़रा ठहरो तो बेटा ! बाबूजी के खाने में तो अभी देर है न ! अभी महरिन कहती थी कि नहा रहे हैं। तब तक कहो तो देख ही लें कि कौन है।

मैं—तुम जानो।

महराजिन—अच्छा, ज़रा देख ही लें।

यह कहकर, और थालियाँ ढाँककर महराजिन तो लंबे-लंबे डग भरती बाहर गईं। इधर मैं एक नज़र सब ओर देख, मैदान खाली पा, दबे पाँव चौके में घुसा, और डॉक्टर साहब की थाली में उन्हीं की शीशियाँ उड़ेलने लगा। 'जिसकी जूती, उसी का सिर'-वाला मसला चरितार्थ होने लगा। एक बोतल में कोई काली-काली दवा थी। वह सब रसादार तरकारियों के लिये काफ़ी हुई। दूसरी शीशी में कोई अर्क़ था, वह भात और दाल दोनों के लिये पूरा पड़ गया। तीसरी शीशी में सफ़ेद रंग का कोई चूर्ण था। उसे मैंने थोड़ा-थोड़ा करके सभी चीज़ों में मिला दिया। फिर थाली को ज्यों-का-त्यों बंद करके बाहर निकल खड़ा हुआ।

थोड़ी देर बाद महराजिन वापस आईं, और उदास होकर चौके में बैठ गईं। मुझे देखते ही बोलीं—"बेटा, वह न-जाने कहाँ चला गया। मुआ ज़रा देर भी न रुका। अब जो आवे, तो

अफ़ीम उससे ज़रूर ले लेना।" इतने ही में पिताजी तथा डॉक्टर साहब भी आ गए। मैं भी हाथ-पैर धोकर पिताजी के चौके में बैठकर मूँग की दाल और रोटी टूँगने लगा। डॉक्टर साहब अलग चौके में बैठे। बिना किसी तकल्लुफ़ के खाना शुरू हो गया।

पहला कौर मुँह में देते ही डॉक्टर साहब ने ज़रा मुँह बिचकाया, पर कुछ बोले नहीं। दो-एक कौर और खाते-खाते उनके मुख-मंडल पर बदहवासी के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे। एक-आध कौर और खाने के बाद वह कुछ कहना ही चाहते थे कि पिताजी बोल उठे—"आज की तरकारी तो बहुत नफ़ीस बनी है। क्यों, है न डॉक्टर साहब? इस पर महराजिन चौके में बैठी-बैठी फूलकर कुप्पा हो गईं, और व्यंग्य-भरे स्वर में बोलीं—"पर जब डॉक्टर साहब को अच्छी लगे, तब जानो। (डॉक्टर साहब की ओर घूमकर) हाँ, डॉक्टरजी, कल की तरह आज तो नमक ज्यादा नहीं है?" यहाँ पर पाठकों से यह बतला देना ज़रूरी है कि इसके एक दिन पहले डॉक्टर और महराजिन की तकरार हो चुकी थी। डॉक्टर ने दाल में नमक अधिक होने की शिकायत की थी, इसी से महराजिन उनसे बिगड़ खड़ी हुई थीं। आज अपने मालिक को अपने बनाए भोजनों की प्रशंसा करते देख उसे डॉक्टर साहब से बदला लेने का अच्छा मौक़ा मिल गया।

मालूम होता है, डॉक्टर साहब झगड़ा मोल लेनेवाले

जीव नहीं हैं। इसी से उन्हें पिताजी की 'हाँ में हाँ' मिलाने के अतिरिक्त और कुछ कहते न बन पड़ा। डॉक्टर साहब ने सोचा होगा कि जब घर का स्वामी भोजन की इतनी प्रशंसा कर रहा है, तब उसकी निंदा करना शराफ़त के बाहर है। पर उनका चेहरा वह बात स्पष्ट रूप से बताए देता था, जिसके कहने की उनकी ज़बान में हिम्मत ही न थी। बेचारे जब कोई नया कौर मुँह में रखते थे, तो उनका मुँह अनायास ही सोलह कोने का बन जाता था। फिर स्वाद लेते समय आप क्षण-भर के लिये आँखें बंद कर लेते थे, ठुड्ढी पर हाथ

कौर मुँह में देते ही डॉक्टर साहब ने मुँह बनाया।

लगा लेते थे, और आसन पर से ज़रा उचक जाते थे। मुख-कोणों का भी अद्भुत परिवर्तन हो जाता था। इसके बाद कौर कहीं डॉक्टर साहब के कंठ के नीचे जाता था। डॉक्टर साहब का मुँह और दिन कितनी तेज़ी से चलता था, इसका अनुमान वही लोग कर सकते हैं, जिन्होंने बिजली की आटा-चक्की को कभी चलते देखा है, पर आज उसकी वह तेज़ी एकदम नष्ट हो गई थी। आज वह इतने धीरे और बेतरतीब चलता था कि बेचारे दाँत कौर पर आघात करने के स्थान में, कड़ाकड़ करते हुए आपस में ही लड़े मरते थे। उसके बाद सन्नाटा छा जाता था, क्योंकि अब कौर को गले के नीचे उतारने का अवसर आता था। यह क्रिया सबसे कठिन थी। डॉक्टर साहब अनेक प्रकार से जोर लगाते और कौर को हलक़ के नीचे उतारने का यत्न करते—यहाँ तक कि बेचारे का मुँह तमतमा उठता, शरीर से पसीना बहने लगता और दम फूल जाता था, पर कौर गले के नीचे की ओर तिल-भर भी न हिलता था। अंत में किसी प्रकार पानी के घूँटों की सहायता से उसे उदर-रूपी कंदरा में ढकेलकर डॉक्टर साहब अपना गला साफ़ कर लेते थे। यही हाल प्रत्येक कौर के साथ होता था।

डॉक्टर साहब के और दिन के तथा उस दिन के भोजन में ज़मीन-आसमान का अंतर था। और दिन तो 'लेत उठावत खैंचत गाढ़े, काहु न लखा देखि सब ठाढ़े।' का मज़मून रहता था। और दिन तो थाली में भोजन का सेकंड-सेकंड में कम

होना, उनके उदर के घेरे का बढ़ना और हाथों तथा मुँह का तेज़ी से चलना देखकर लोगों को किसी नई प्रकार की मशीन का धोखा हो जाता था ; पर आज ऐसा मालूम होता था, मानो उस मशीन में जंग लग गया है। डॉक्टर साहब की स्वाभाविक रसिकता भी आज लापता थी। बेचारे की आँखों से विषाद टपका पड़ता था। इधर हँसी के मारे मुझे भी खाना हराम हो रहा था।

पिताजी का ध्यान जो डॉक्टर साहब के इस नवीन परिवर्तन की ओर गया, तो वह आश्चर्य से बोल उठे—"डॉक्टर साहब ! आज क्या बात है ? थाली में सब खाना ज्यों-का-त्यों रक्खा हुआ है।"

डॉक्टर साहब के उत्तर देने के पहले ही मैं भी हँसी रोकता हुआ बोला—"डॉक्टर साहब ! सचमुच आज तो आप उसी तरह मुँह बना-बनाकर खाना खा रहे हैं, जैसे कोई आपकी दी हुई दवा पी रहा हो।"

उधर से महराजिन की आवाज़ आई—"डॉक्टरजी, नमक बहुत पिसा रक्खा है, कम हो तो माँग लेना।"

बालटी में लोटे को डुबाती हुई आँगन से महरिन ने फ़रमाया—"महराजिन खाना ही ऐसा ख़राब बनाती हैं कि किसी काम का नहीं होता। तिसमें डॉक्टर साहब तो शाहरुआ हैं।"

महराजिन यह सुनते ही चौके में उछल पड़ीं और लाल

आँखें करके, महरिन को ललकारकर अपने व्याख्यान का सिलसिला शुरू करनेवाली ही थीं कि पिताजी उसे चुप करते हुए बोले—"नहीं, यह बात नहीं है। आज का खाना बहुत अच्छा है।" फिर डॉक्टर की ओर देखकर—"हाँ, डॉक्टर साहब! आज आपको क्या हो गया है?"

ऐसी हालत में खाने में खराबी बतलाने के लिये बहुत साहस की जरूरत थी। डॉक्टर साहब जल्दी से कोई बहाना ढूँढ़ने लगे—"कुछ नहीं...यही...सिर्फ़...ज़रा (उधर से महराजिन के खाँसने की आवाज़ आई) पेट में दर्द है।"

अब तो मैं अपनी हँसी न रोक सका। पर मुझसे बिना बोले भी न रहा गया—"यदि ऐसा है, तो आप भी डॉक्टर साहब थोड़ी मूँग की दाल चक्खें। देखिए, कैसी स्वादिष्ठ बनी है।"

उधर पिताजी भी कुछ कहने ही वाले थे कि इतने में डॉक्टर साहब 'ओ-ओ' की आवाज़ें करते हुए चौके से उठ भागे, और शायद दरवाज़े पर पहुँचकर ही रुके। हम लोग भी चौके से उठ पड़े।

सातवाँ परिच्छेद

घरवालों की ख़फ़गी

दूसरे ही दिन डॉक्टर साहब अपना बोरिया-बँधना बाँध जहाँ से आए थे, वहाँ कूच कर गए। इधर कुछ दिनों पढ़ाई बंद रहने से मैं भी चंगा हो गया था। हाँ, डॉक्टर साहब की दवाइयों ने मुझे बीमार बना रक्खा था। चलो, 'राम-राम' करके उनसे भी छुट्टी मिली। हाँ, इतना ज़रूर हुआ कि जेब-ख़र्च का पेट काटकर मुझे दो आने की अफ़ीम महराजिन के लिये लानी पड़ी, सो भी बिना किसी एहसान के।

इसके बाद कोई साल-भर तक मैं उसी प्रकार स्वतंत्र रहा, जैसे चिड़िया जंगल में रहती है। ख़ूब सैर-सपाटा होता रहा। इसी बीच में मुझे शिकार का चस्का पड़ गया। मैंने पिताजी से बहुतेरा कहा कि मुझे भी एक बंदूक़ मँगवा दीजिए, पर उन्होंने एक न सुनी। लाचार होकर मुझे दूसरे ही हथियारों से काम लेना पड़ा। तीर-कमान, गुलेल और ईंट-पत्थर वास्तव में वे हथियार हैं, जो शिकार के मामले में बड़े-बड़े काम कर सकते हैं। लोग इनकी क़द्र नहीं करते, इसका मुख्य कारण यह है कि इनके प्रयोग में अक़्ल का ख़र्च ज्यादा है। पर बारूद का ख़र्च सहल है, और हरएक आदमी उसे बरदाश्त कर सकता

है—इसी से लोग बंदूक़ को ज्यादा पसंद करते हैं। मुझे तो बंदूक़ बिलकुल ही पसंद नहीं।

जो काम मैं करता हूँ, शुरू ही से करता हूँ; बीच से कोई काम करना मुझे पसंद नहीं। शिकार का काम भी मैंने शुरू से ही हाथों में लिया। बाज़ शिकारी क्या करते हैं कि एकदम से बड़े जानवरों पर पिल पड़ते हैं, पर मैंने सारा काम क्रम से शुरू किया और पहले छोटे जानवरों पर हाथ साफ़ किया। हमारे कई साथी, जिनमें संतू और लासादीन भी थे, शिकार के प्रेम से प्रेरित हो हमारा साथ निबाहते थे।

हाँ, तो क़ायदे के अनुसार पहले छिपकलियों से मामला शुरू हुआ। संभव है, लोग इस छोटे-से जंतु के शिकार का ज़िक्र सुनकर मेरी हँसी उड़ावें, पर इससे केवल यही साबित होगा कि वे किसी काम को आरंभ से करने के आदी नहीं हैं। माना कि जीव छोटा है, पर उसका शिकार कितना मुश्किल है, यह वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने कभी उसके विरुद्ध शस्त्र पकड़ा है। यदि सच पूछा जाय, तो घर के छोटे-मोटे जीव-जंतुओं में उसका वही स्थान है, जो जंगल में शेर का है। बीसों बार मुझे इसके शिकार से ख़ाली हाथ लौटना पड़ा है।

शिकार का 'श्रीगणेश' घर की बैठक से ही हुआ। पिताजी उन दिनों कई दिन के लिये बाहर गए हुए थे। लासादीन और संतू दैवयोग से उस समय वहीं मौजूद थे। तीर-कमान, गुलेल, चाबुक इत्यादि अस्त्र-शस्त्र भी वहीं रक्खे थे। एकाएक

दीवार पर एक शिकार दिखलाई पड़ा। फिर क्या था, हम लोग उस पर पिल पड़े। पहले तो मालूम होता था कि शिकार हाथ से चला जायगा, पर मेहनत और बुद्धि के आगे कोई बात असंभव नहीं। निदान, शाम होते-होते हम लोगों ने शिकार पकड़ ही लिया।

बहुत शिकारी शिकार की हुई चीज़ों को खा डालते हैं, पर यह बात मुझे पसंद नहीं। इसे मैं शिकारीपन नहीं, बल्कि मरभूखापन कहता हूँ। मेरे खयाल में शिकारी को अपनी शिकार की हुई सारी वस्तुएँ सुरक्षित रखनी चाहिए। इसी इरादे से अपने पहले शिकार को जेब में रख हम लोग बुद्धा चमार के यहाँ पहुँचे। उसे उस छिपकली के चीरने और उसमें भुस भरने का काम सिपुर्द हुआ। पहले तो वह मुस्किराया और कुछ टाल-मटोल भी करने लगा, पर बाद में खेतों की माफ़ी करा देने के प्रलोभन से वह राज़ी हो गया।

अब तो शिकार दिन-दिन ज़ोर पकड़ने लगा। मुहल्ले-भर की दीवारों, ताकों और दराज़ों की खोज करके जो कुछ शिकार मिला, वह धीरे-धीरे हमारे टंक में हो रहा। थोड़े दिनों के बाद मुहल्ले में शिकार मिलना असंभव हो गया, इससे बाग़-बग़ीचों में जाने की ज़रूरत पड़ी। नित्य सुबह खाने के बाद हम लोग कहीं बाहर निकल जाते, और तरह-तरह के शिकार से अपनी जेबें भर लाते। मेंढकों के शिकार में हमारे साथियों को बड़ा आनंद आता था। ह्वेल

मछली के शिकार का बयान जैसा किताब में पढ़ा था, वैसा ही मज़ा इसके शिकार में था। वार करते ही वह किस प्रकार पानी में अंतर्धान हो जाती थी, फिर हम लोग किस तरह अपने-अपने अस्त्र-शस्त्रों को तानकर खड़े हो जाते थे, और फिर उसके निकलते ही किस प्रकार मशीनगन की तरह हमारे वार शुरू हो जाते थे—देखने लायक़ दृश्य था। अब तो इस प्रकार की बातों में मुझे निर्दयता की बू मालूम पड़ती है, पर उन दिनों शिकार की धुन में सभी कुछ अच्छा जँचता था।

इस प्रकार कुछ ही महीनों के अंदर मेरा ट्रंक तरह-तरह के शिकार से लबालब भर गया। जब उसमें स्थान न रहा, तो मैंने अपनी छोटी बहन से उसकी गुड़ियों का डब्बा थोड़े दिन के लिये माँग लिया। कई दिन तो मामला सहूलियत से निबटता गया, पर एक दिन उसने अपना डब्बा वापस लेने की इतनी ज़िद की कि मुझे बड़े असमंजस में पड़ना पड़ा। मैंने सारा घर छान डाला, हरएक से कोई छोटा-मोटा डब्बा माँग हारा, पर कहीं न मिला। बड़ी कठिनाई से शरदिया (बहन) ने एक दिन की मोहलत दी।

दूसरे दिन सुबह से ही मैं तो कहीं से डब्बा लाने की फ़िक्र में अड़ोस-पड़ोस में चक्कर काटने लगा, इधर घर वापस आया, तो देखा कि दूसरा ही गुल खिला है। शरदिया ने उस

दिन वह किया, जिसके लिये मैं उसे हरगिज़ धन्यवाद नहीं दे सकता।

बड़ी मेहनत के बाद काग़ज़ का एक डब्बा हाथ में लिए हुए जो घर पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि मामला बड़ा संगीन है। घर के सब लोग (यहाँ तक कि पिताजी और अम्मा भी) आँगन में जमा थे, और बड़े विस्मय के साथ किसी वस्तु को देख रहे थे। शरदिया बीच-बीच में भयभीत-सी होकर चीख़ पड़ती थी। मुझे देखते ही वह मेरी ओर दौड़ पड़ी और लगी बिगड़ने—"दादा, तुम बड़े ख़राब हो। तुमने हमारे डब्बे में क्या भर रक्खा है? तुमने हमारा डब्बा गंदा कर दिया; अब मैं उसे न लूँगी।" यह कहकर वह लगी आँसू बहाने।

मामला समझ में आते ही मैंने सोचा कि ग़ज़ब हो गया। मैं अच्छी तरह जानता था कि बुड्ढों को लड़कों के कामों से प्रेम हो ही नहीं सकता, इससे मैंने घर के सभी लोगों से अपने ख़ज़ाने को छिपा रक्खा था। हाँ, इतना तो लोग धीरे-धीरे जान ही गए थे कि मैं एक शिकारी जीव हूँ—अपना गुण कोई कहाँ तक छिपा सकता है, पर मैं अपने शिकारों को भी बॉक्स-गत करता जाता हूँ, इसका किसी को स्वप्न में भी ख़याल न था। शरदिया ने सारा भंडा फोड़ ही दिया।

इसके बाद क्या हुआ, यह लिखने का जी नहीं चाहता।

उस समय जितने लोग आँगन में थे, सब मेरे विरुद्ध हो गए। कोई तरह-तरह से मेरी हँसी उड़ाने लगा, कोई मुझे 'घिनहा' की उपाधि बेमाँगे देने लगा, कोई क्रोध करने लगा—और पिताजी तो सबसे बढ़ गए—वह मुझे मारने दौड़े, पर पता नहीं, क्या सोचकर रुक गए—बहुत संभव है, उन्हें अपने बचपन का ख़याल आ गया हो। मा का तो जी मतलाने लगा, हालाँ कि जी मतलाने का वहाँ कोई सामान न था। महरिन तक उस दिन शान बघारने लगी, और नाक दबाकर आँगन के दूसरे कोने में जा खड़ी हुई। वहाँ बदबू का कहीं नाम तक न था; हाँ, खालें एक-दो दिन ही पहले की थीं, इससे उनमें थोड़ी-बहुत गंध का होना तो आवश्यक था, पर उस गंध को बदबू कहकर नाक बंद करना किसी तरह उचित न था।

पिताजी ख़फ़ा तो हुए ही, साथ ही उन्होंने हमारे उन बहुमूल्य चिह्नों को फेंकवा भी दिया। मैंने बहुतेरा कहा-सुना, पर उन्होंने एक न मानी। मैंने तो यहाँ तक कहा कि चाहे मुझे एक-आध चपत भले लगा लो, पर मेरी चीजें रहने दो, लेकिन इससे उनके मुख पर एक हलकी हँसी की रेखा दौड़ने के सिवा और कुछ न हुआ।

उस रोज़ सारे दिन मेरे दिमाग़ में गर्मी छाई रही। मुझे रह-रहकर ख़याल आने लगा कि बुड्ढे आदमी बालकों पर कैसा अत्याचार करते हैं। मैंने सोचा, दुनिया में तरह-तरह के लाखों

सुधारक हैं—कोई स्त्रियों की दशा पर फूट-फूटकर रो रहे हैं, और उन्हें मनुष्यों के सिर पर चढ़ाने की फ़िक्र में हैं; कोई शूद्रों को अपनी बिरादरी में मिलाने की फ़िक्र में हैं, पर ऐसा एक भी सुधारक नहीं है, जो बालकों की दुर्दशा पर दया करता, और उन्हें उनके ईश्वरदत्त अधिकार दिलाता । बालकों की हालत तो स्त्रियों और शूद्रों से भी गिरी हुई है। स्त्रियाँ घर में बैठी-बैठी जो मन में आता है, किया करती हैं। घर की सारी अलमारियाँ, सारे संदूक़ और सारे डब्बे उन्हीं के क़ब्ज़े में रहते हैं। उनमें वे जो चाहे रक्खें, कोई कुछ पूछनेवाला नहीं। कभी किसी को उनके डब्बों की तलाशी लेते नहीं सुना। मैं पूछता हूँ, क्या बालकों को इनमें से किसी चीज़ पर अधिकार ही नहीं है ? शूद्र भी हमसे लाख दर्जे अच्छे हैं। लोग जितना उनसे परहेज़ नहीं करते, उससे कहीं अधिक हमसे करते हैं। ज़रा घर के अंदर कोई खेल खेलना शुरू किया, ज़रा दिल बहलाने को गाने की मश्क़ करने लगे—बस, बाहर जाकर बैठने का हुक्म मिल गया। उधर जो बाहर पहुँचे, और किसी दिलचस्प काम में मन लगाया, तो अंदर जाने का हुक्म मिलता है। इसी प्रकार बेचारों को दिन-भर इधर-से-उधर दौड़ते ही बीतता है।

उनके खाने-पीने का भी अच्छा इंतज़ाम नहीं होता । उनके खाने-पीने के वक़्त बाँध दिए जाते हैं, ठीक उसी तरह जैसे क़ैदियों के वक़्त बँधे होते हैं। कितना बड़ा ज़ुल्म है ! इसके सिवा आदमी जितनी मिठाइयाँ और चाट उड़ा जाते हैं, उसका

दसवाँ हिस्सा भी हमें नहीं मिलता। यदि कभी धोखे से ज्यादा मिठाई हमारे हाथ लग जाती है, तो उपदेश मिलता है कि अधिक खाने से हानि होगी। जी हाँ, मिठाई खाने से हमें तो हानि होगी, पर आपको क्या होगा, जो दोने-के-दोने हज़म कर जाते हैं ? रसोई की अलमारी खोलकर और कोई चाहे जो कुछ निकाल ले, कोई कुछ नहीं कहता, पर यदि हमने ज़रा-सा गुड़ भी ले लिया, तो चोर समझे जाते हैं !

संसार के सभी भले आदमी दोस्तों के साथ बैठकर तरह-तरह के खेल खेलते और हँसी-दिल्लगी करते हैं, पर यदि हम कभी अपने दोस्तों को साथ लेकर घर पहुँच जाते हैं, तो घरवालों की नाक-भौं सिकुड़ जाती है। फिर उस समय हमारी उतनी ही देख-भाल रक्खी जाती है, जितनी सी० आई० डी०-वाले हमारे नेताओं की रखते हैं। उस समय आपस में बातचीत करना भी घरवालों की निगाह में पाप है और घर की सड़ी-से-सड़ी चीज़ भी खेलने के लिये ले लेना तो महापातक है। अपने दोस्तों को तो आप मिठाई और पान खिलाते हैं, और उनके साथ आप ऐसे कहक़हे लगाते हैं कि घर की छतें तक थर्रा उठती हैं, पर मुझे अपने दोस्तों के साथ ख़ालिस बातचीत करना भी आपको पसंद नहीं। पान-पत्ते का ज़िक्र ही क्या ?

इसके कुछ ही दिन पहले का ज़िक्र है कि एक दिन मैं अपने थोड़े-से चुने साथियों के साथ घर के आँगन में खेल रहा था।

गर्मी के दिन थे और दोपहर का समय, इससे सब लोग इधर-उधर पड़े सो रहे थे; नहीं तो क्या यह संभव था कि हम लोग ज़रा देर भी वहाँ टिककर खेल पाते? ख़ैर, आपस में तय हुआ कि आज बारात का खेल खेला जाय। पर यह खेल बिना अच्छे कपड़ों के होना असंभव था, इससे मैंने सोचा कि यदि थोड़ी देर के लिये घरवालों के कपड़े ले लूँ, तो हमारा भी काम बन जायगा, और किसी का नुक़सान भी न होगा। यह सोचकर मैं मा के पास गया, और देखा कि वह पड़ी सो रही हैं। पर वहीं पास ही शरदिया बैठी कुछ खेल रही थी। मैंने उससे बतलाया कि आज बारात का खेल हो रहा है। यह सुनते ही वह भी फड़क उठी, और ख़ुद भी खेल में शरीक होने का आग्रह करने लगी। वैसे तो मुझे लड़कियों से एकदम घृणा है, पर उस दिन मुझे उस पर दया आ गई, और मैंने उसे खेल में शरीक कर लिया। साथ ही बारातियों के लिये कपड़े ला देने का भार भी उसे ही सौंप दिया।

थोड़ी देर में मेरे कहने से वह मा के तकिए के नीचे से चाबियों का गुच्छा ले आई। अब हम और वह दोनो ट्रंक खोल-खोलकर कपड़े ढूँढ़ने लगे। मैंने अपने सारे धराऊ कपड़े निकाल लिए। शरदिया ने भी अपनी गोटे की किनारीवाली रेशमी साड़ी पहन ली। मैं उसे तो यों ही रखना चाहता था, पर जब उसने बतलाया कि बिना धराऊ

साड़ी पहने आरती न उतारूँगी, तब मैंने उसके काम में कोई बाधा नहीं डाली। इस प्रकार हम दोनो जने तो लैस हो गए, और दूसरे बारातियों के लिये मा के दो-एक जाकेट और पिताजी के एक-आध कोट निकाल लिए गए।

अब तो हम लोग अच्छे-खासे बाराती मालूम पड़ने लगे। मेरे साथी कजल् ने कहा—"बिना इत्र, फुलेल लगाए कोई बाराती बन ही नहीं सकता।" थोड़ी देर में शरदिया एक छोटा-सा इत्रदान और हेयरऑयल की एक शीशी ला खड़ी हुई। हम लोगों ने तेल और इत्र दोनो ही का दिल खोलकर इस्तेमाल किया। इसके बाद बारात के प्रस्थान के समय की सारी रस्में अदा हुईं, और इस खयाल से कि महफ़िल का मज़ा फीका न पड़ने पावे, घर की सारी लालटेनें और दीए जला-जलाकर वहाँ जमा कर दिए गए। टीन के पीपों और थालियों की सहायता से बाजों का भी अच्छा प्रबंध हो गया। लोग खूब दिल खोलकर नृत्य-गान कर रहे थे कि इतने में दरवाज़ा खुला और मा आँगन में आईं। हम लोगों की तरफ़ देख-देखकर वह ऐसा मुँह बनाने लगीं, मानो लड़कों का खेलना उन्होंने कभी देखा ही न था। शरदिया मा को देखते ही उनके पास दौड़ गई, और न-जाने उनसे क्या कह दिया कि वह बेत ढूढ़ने लगीं। सच कहता हूँ, पाठको! उस दिन ऐसी ज़िल्लत से हमें और हमारे साथियों को घर से भागना पड़ा है कि मुझसे तो बालक-जाति की दुर्दशा पर आँसू बहाए बिना नहीं रहा

जाता । उस दिन से महरिन दोपहर-भर बरामदे में बैठी-बैठी मुझ पर सी० आई० डी० के दारोग़ा की तरह नज़र रखती है। लड़कों की बेइज़्ज़ती की भी कुछ हद है !

यह तो एक छोटा-सा उदाहरण है। दिन-भर में न-जाने कितने मामले इस तरह के पड़ा करते थे, और न-जाने कितने दफ़े मुफ़्त बेइज़्ज़ती होती थी। डब्बेवाले मामले के बाद से मेरा दिल घर से फट-सा गया। मैंने भी सोच लिया कि खाना खाने के अतिरिक्त घर के अंदर जाऊँगा ही नहीं, फिर मेरा कोई क्या करेगा। साथ ही यह भी पक्का इरादा कर लिया कि बड़े होने पर मैं भी सुधारक बनूँगा, और बालक-जाति के सारे अधिकार, जो उनके मा-बापों ने छीन लिए हैं, उन्हें ज़रूर दिलाऊँगा।

आठवाँ परिच्छेद

पड़ोसियों से मुठभेड़

आफ़त का मारा जहाँ जाता है, वहीं उसके स्वागत के लिये नई-नई आफ़तें तैयार रहती हैं। घर के बाहर रहने की जो मैंने ठानी, तो वहाँ भी आफ़तों ने पिंड न छोड़ा। मैंने देखा कि जिसके यहाँ मैं जा बैठता हूँ, उसकी नानी-सी मर जाती है। मुझसे कोई कुछ कहता तो था नहीं, पर उनके मुखों के उतरने, नाकों के सिकुड़ने और आँखों के तिरछे होने तथा सारी देह में कँप-कँपी छा जाने से मैं तुरंत ताड़ जाता था कि मेरी सूरत का उन पर ज़बरदस्त असर पड़ रहा है। पर बोलता मैं भी कुछ न था—मुझे तो अपने काम से काम था। जब तक मेरे और मेरे साथियों के मनबहलाव में कोई विघ्न-बाधा नहीं पड़ती थी, तब तक कुछ कहने-सुनने की ज़रूरत ही क्या थी?

मेरे पड़ोसी मुझे अपने-अपने घरों से भगाने की बड़ी-बड़ी तदबीरें करते थे, पर मैं एक भी न चलने देता था। कभी-कभी वे अपने लड़कों को छिपा रखते थे, और मेरे पूछने पर कह देते थे कि लड़के घर में नहीं हैं। ऐसी हालत में मैं कहता—"कोई हर्ज नहीं। तब तक मैं अकेला ही खेलता हूँ।" इसके बाद मैं कोई मनोरंजक खेल शुरू कर देता और बीच-बीच में ख़ुशी

की किलकारियाँ मारता जाता—बस, फिर उन लड़कों से छिपे रहते न बन पड़ता, और वे दौड़कर हमारे खेल में शामिल हो जाते थे। कभी-कभी जब मुझे देखते ही कोई पड़ोसी अपने लड़के से पढ़ने की ताकीद करता, उस समय मैं भी उसकी हाँ-में-हाँ मिलाता, और लड़के से उसी समय किताब निकालकर पढ़ने का उपदेश देता, फिर थोड़ी देर तक पन्ने उलटने और गूँ-गाँ करने के बाद हम लोग कोई दिलचस्प खेल खेलने लगते थे।

कोई-कोई पड़ोसी मुझे डराने के लिये अपने दरवाजों पर मरकहे गोरू बाँध रखते थे। इस पर जो मैंने छतों पर होकर सफ़र आरंभ किया, और दीवारें फाँदने की मश्क़ करने लगा, तब लोग बहुत चिढ़ने लगे, और मुझे शैतान का अवतार कहने लगे। धीरे-धीरे मैंने देखा कि उनकी छतों और दीवारों पर झाड़ों के अंबार लद गए। लो, उधर से भी रास्ता बंद हो गया।

पर मैं सहज में हारनेवाला जीव नहीं था। एक दिन तो मैं कुछ न बोला, पर दूसरे ही दिन मैंने लोगों से कहना शुरू किया—अरे भाई सुना! कल रात का चोरोंवाला मामला! अरे, तुम्हें अभी तक मालूम ही नहीं। क्या ख़ूब! गाँव-भर में हलचल पड़ी है। अभी-अभी तो चार-पाँच आदमी (उनमें से दो-एक के नाम बतला देता) यही बातें करते इधर से गए हैं। कहते थे कि सारा गाँव जलते-जलते बच गया। शाम होते-होते ख़बर सारे गाँव में फैल गई। सब लोग अपने-अपने ढंग से उसका वर्णन करने लगे।

यहाँ तक कि नमक-मिर्च लगते-लगते उस ख़बर ने बड़ा ही भयंकर रूप धारण किया। प्रायः सभी उसे आँखों-देखी बतलाने लगे, और साथ ही यह बात दावे के साथ कहने लगे कि यदि वे ऐन मौक़े पर खाँस न दिए होते, तो आग ज़रूर लग गई होती। ख़बर के गढ़ने में मेरा जो भाग था, उसका कहीं ज़िक्र तक न था। पिताजी भी सारे दिन घबराए-से रहे।

मैंने देखा कि मेरा उद्देश्य सिद्ध हो गया। रात-भर में ही लोगों ने अपनी छतों और दीवारों पर से झाड़ें और काँटे उतार डाले। साथ ही जागना पड़ा, सो घाते में। दूसरे दिन से मेरा रास्ता फिर साफ़ हो गया। मेरे पड़ोस में एक पंडित रहते थे, जिनका असली नाम तो मुझे नहीं मालूम, पर गाँव के शिक्षित समुदाय में 'वाराहजी' या 'वाराह अवतार' के नाम से प्रसिद्ध थे। पंडितजी का यह नाम शायद उनके बड़े-बड़े लंबे दाँतों के कारण रक्खा गया था। लड़कों के झुंड जब कभी आपके दरवाज़े से निकलते, तो 'वाराहजी' की जय बोले बिना न मानते थे। ऐसे अवसरों पर जब आप दाँत कटकटाते हुए लड़कों का पीछा करते, तो सिद्ध हो जाता था कि आपका यह नाम रखने में कोई भूल नहीं हुई। उस पर जब आप लड़कों को कच्चा ही खा डालने का प्रस्ताव सुनाते थे, तब तो रहा-सहा संदेह भी दूर हो जाता

था । उनका बदन एकदम झोल-झाल-सा बना हुआ था । कान भी आपके अच्छे खासे थे ; इसी से जब आप चलते थे, तो दूर से देखनेवालों को प्रायः ऐसा संदेह हो जाता था कि कोई छोटा-मोटा हाथी कान फटफटाता हुआ चला जा रहा है । आप यों तो सर्व-गुण-निधान थे, पर आपकी सबसे बड़ी खूबी यह थी कि आपको बालक-जाति के प्रति असीम घृणा थी । शायद वही 'अंगूर खट्टे'वाला मजमून था, क्योंकि आप एकदम निपूते थे।

इन महोदय का चबूतरा था तो कच्चा, पर ऐसा अच्छा बना था कि मानो लड़कों के खेलने ही के लिये विशेष रूप से बनाया गया हो। नीम की छाँह, मिट्टी की बहुतायत, आगे खुली नर्म ज़मीन, ये वास्तव में ऐसी चीज़ें हैं, जो लड़कों का मन मोह लेती हैं ; यही तो कारण था कि उनके घर में अपना कोई साथी न होते हुए भी मैं उधर एक-आध चक्कर ज़रूर लगा आता था । अगर मैदान खाली देखता, तो तुरंत अपने साथियों को सूचना देता। बस, फिर क्या था, सब लोग चट से पहुँच जाते थे, एक-आध खुरपा साथ होता ही था, कुएँ खोदने और खेत सींचने का खेल शुरू हो जाता था । कुएँ हम लोग प्रायः चबूतरे ही पर खोदते थे, और खेत उसके आगेवाली ज़मीन पर बनाते थे—ऐसा करने से नालियों द्वारा खेतों में पानी पहुँचाने में सुबीता होता था; नहीं तो बिना ढालू ज़मीन के पानी बहता ही कैसे ?

पंडितजी को हमारी सूरत से चिढ़-सी हो गई थी। मुझे देखते ही उनकी त्योरी बदल जाती थी, और धीरे-धीरे कुछ उसी प्रकार बड़बड़ाने लगते थे, जैसे कोई भूत-बाधा हटाने के लिये मंत्र पढ़ रहा हो। जब कभी मैं पंडितजी से कुशल-प्रश्न करता, तो आप ज्यादातर दूसरी तरफ़ देखने लगते थे, पर कभी-कभी लाल-पीली आँखें बनाकर न-जाने क्या-क्या बक जाते थे। यदि कभी वह मुझे अपने साथियों के साथ देख लेते, तो उस दिन पिताजी से मेरी ज़रूर शिकायत करते। हँसने से उन्हें एकदम घृणा थी। ख़ासकर किसी लड़के को हँसते देखते, तो उसे कच्चा खा जाने की धमकी देते थे। पता नहीं कि पंडितजी ऐसा घृणित काम करने के योग्य थे या नहीं, पर हाँ, उनके बड़े-बड़े दाँतों को देखकर, जिनमें तंबाकू ने ख़ूब कारीगरी कर दी थी, यदि बालक उनके कथन को सत्य समझकर भाग जाते थे, तो हम तो उन्हें डरपोक न कहेंगे।

इस आगेवाले मामले के एक-आध दिन बाद ही जो मैं पंडितजी के घर के पास होकर निकला, तो देखा कि उनके दरवाज़े पर एक बड़ा-सा ताला लटक रहा है। पंडितजी कहाँ गए हैं, यह जानने के लिये मन मचल उठा। अड़ोस-पड़ोस में पता लगाया, तो मालूम हुआ कि वह बाज़ार गए हुए हैं। यह बाज़ार गाँव से कोई तीन कोस दूर पर तहसील में लगता था। सुनकर बड़ी ख़ुशी हुई, पर पंडितजी की चालाकी से जी कुढ़ गया। क्योंकि उसी समय उनके एक पड़ोसी ने

आकर अड्डा जमा लिया, और उसकी ज़बानी मालूम हुआ कि पंडितजी उसे अपना चबूतरा तका गए हैं। अब तो मैंने भी निश्चय कर लिया कि और चाहे जो हो, पंडितजी की चालबाज़ी का मज़ा चखाए बिना न रहूँगा।

दोस्तों में ज़िक्र हुआ। सभी ने पंडितजी को मज़ा चखाने की ठान ली। देर तक सलाह हुई, पर कोई बात न सूझी। अंत में जो छतों पर नज़र दौड़ाई, तो सारी कठिनाई हल हो गई। पता चला कि इस छत का संतू के घर से लगाव है। फिर क्या था, हम लोग उसके यहाँ एक-एक या दो-दो करके पहुँचने लगे। ज़रा देर घरवालों से बातचीत करते और आँख बचाकर छत पर हो रहते, फिर पंडितजी के घर में दाख़िल हो जाते। एक ही घंटे के अंदर हमारे सारे साथी पंडितजी के छप्पर के नीचे बैठकर थकान उतारने लगे। हमारे एक साथी को, जो ज्वर के कारण कई दिन से बाहर न निकलता था, आज के मामले में इतना लुत्फ़ आया कि उसने भी इस चढ़ाई में हाथ बँटाया।

कुछ देर आराम करने के बाद हम लोगों ने एक खुरपा और एक हँसिया ढूँढ़ निकाला, और लगे छप्पर के नीचे कुएँ खोदने। जो लोग बाक़ी बचे, उन्होंने पंडितजी के घर की तलाशी लेनी शुरू की; साथ ही जो सामान मिला, उसे हम लोग अपनी निज की तरतीब से सजाने लगे। पंडितजी के जितने वस्त्र मिले, सबों में पयाल भर, बटन या तनी लगा, और इस प्रकार उन्हें छोटे-मोटे सिर-विहीन आदमियों का रूप

देकर वे सब इधर-उधर खड़े कर दिए गए। कोठरी में पंडितजी की एक चारपाई बिछी हुई पड़ी थी। उस पर उनका बाक़ी सामान—संदूक, बर्तन, घड़े इत्यादि—इस प्रकार जमा कर दिए गए कि देखने में किसी पुराने पंसारी की दूकान के दृश्य का मज़ा आ जाता था। दीवारों में जहाँ-जहाँ पंडितजी ने 'राम-राम' लिख रक्खा था (पता नहीं कि सूखी भक्ति या किसी वरदान के लोभ से), उसके नीचे-नीचे हम लोगों ने पंडितजी के शुभ उपनाम को सैकड़ों दफ़ा और सैकड़ों तरीक़ों से लिखा। मैंने तो केवल 'टका अवतार', 'बटेर अवतार' इत्यादि ही लिखकर संतोष किया, पर हमारे कुछ साथियों ने तो हद कर दी—'गर्दभ अवतार', 'तीतर अवतार', 'बठिया अवतार,' 'घास-कूड़ा अवतार' इत्यादि नामों की भरमार से सारी दीवारें रँग दीं। जिन्हें लिखने के लिये कोयला न मिला, उन्होंने हँसिए से ही पंडितजी के नाम को अमिट अक्षरों में खोदकर पंडितजी के प्रति अपने स्नेह का परिचय दिया।

इधर अब तक लगभग आधे दर्जन कुएँ भी खोदे जा चुके थे। एक दिन में इतना काम काफ़ी से ज़्यादा समझ हम लोग अपने पुराने रास्ते से वापस चल दिए। इस दफ़ा पंडितजी की छत पर कई एक मिट्टी के घड़े पानी से भरे हुए रक्खे दिखलाई दिए। आते समय शीघ्रता के कारण उन पर हमारा ध्यान नहीं गया था। मालूम हुआ कि आग लगने के डर से प्रायः लोग पानी से भरे घड़े छतों पर रख लेते हैं। अब यह प्रश्न उठा

कि इस पानी का किस प्रकार प्रयोग किया जाय। हम लोग उन्हें नीचे उतारने की फ़िक्र में ही थे कि छत में एक रोशनदान नज़र आया। आहा! तबीयत बाग़-बाग़ हो गई। झाँककर नीचे देखा, तो मालूम हुआ कि पंडितजी की चारपाई ठीक उस रोशनदान के नीचे है। फिर क्या था, सारे घड़े उसी रोशनदान के अंदर उड़ेल दिए गए। नीचे पहुँचकर पानी ने अजीब करिश्मे दिखाए होंगे। इसके बाद हम लोगों ने अपने घर का रास्ता लिया।

कोई आधी रात के समय एकाएक मेरी आँख खुल गई। मालूम हुआ कि कोई नीचे से पिताजी को बुला रहा है। ग़ौर से सुनने पर मैंने पहचाना कि आवाज़ 'वाराहजी' की है। यों तो मैं उनकी आवाज से बखूबी परिचित था, पर उस समय उनका स्वर इतना बदला हुआ था कि मैं समझा, कोई भूखा भिखारी कई दिन के लंघन के बाद भीख माँगने आया है। पंडितजी के साथ कुछ मुसाहब भी थे, जो उनसे बार-बार आँसू रोकने का आग्रह कर रहे थे, पर पंडितजी की हिचकियाँ बँधी हुई थीं। खैर, पिताजी ने खिड़की खोली, और वहीं से पूछा कि मामला क्या है। उनका बोलना था कि पंडितजी एकदम धाड़ मारकर रोने लगे। सब लोगों के समझाने पर भी पंडितजी चुप न हुए, और न-जाने कितनी देर तक रोते रहे। जब आँसुओं का तार टूटा, और फेफड़ों ने भी उस प्रकार की कसरत करने

से जवाब दे दिया, तब पंडितजी के श्रीमुख से ये शब्द निकले—

"हाय बाबूजी ! लुट गया ! मर गया ! कहीं का न रहा !! हाय बाबूजी ! अब कैसे जीऊँगा ; मेरे कुछ नहीं रहा ।" फिर पिताजी के पूछने पर आपने अपने घर की दशा का वर्णन किया । मालूम हुआ कि अँधेरे में हमारे खोदे हुए कुओं ने आपके पैर बेतरह पकड़े, यहाँ तक कि आपके दोनो पैरों में मोच आ गई । बिस्तरे के भीगने का हाल बतलाते हुए आप दुबारा बड़ी दीनता के साथ रोने लगे, क्योंकि आप-का वही एकलौता बिस्तरा था । अंत में आपने मेरा नाम लिया, और फ़रमाया कि शायद जंगी की ही यह कारस्तानी है । पर ताला लगे रहने पर भी उनका छोटा-सा बेटा इतने बड़े-बड़े काम कर आएगा, यह बात पिताजी की समझ में न आई । अंत में उन्होंने अगले दिन प्रातःकाल उस मामले की जाँच करने का वादा किया, और पंडितजी के सोने के लिये एक बिस्तरा उसी समय दिलवा दिया । तब कहीं पंडितजी को कुछ धीरज हुआ ।

दूसरे दिन सुबह जल-पान के बाद जब पिताजी पंडितजी के यहाँ जाने लगे, तो मैं भी साथ हो लिया । यह काम मैंने बड़ी पॉलिसी का किया, नहीं तो पंडित महोदय पिताजी से न-जाने क्या कहते । खैर, उनके यहाँ पहुँचे । रास्ते में हम लोगों के साथ और भी कई आदमी

हो लिए । पंडितजी ने पिताजी की बड़ी आव-भगत की, पर मुझे देखते ही उन पर विरक्ति का भाव ऐसा फट पड़ा कि बेचारों की सारी सुध-बुध न-जाने कहाँ जाकर विचरने लगी । कुछ समय के लिये तो मानो बेचारों की घिग्घी बँध गई। कुछ बोल ही न सके। जब बोल फूटने की नौबत आई, तो आपने पिताजी से पहलेपहल यही सवाल किया कि आप इस लड़के को क्यों लाए ।

निदान, पिताजी ने पंडितजी का घर देखा—छप्पर के नीचेवाले कुएँ देखे, घर का भीगा हुआ सामान देखा, और दीवार पर की लिखावट देखी। लिखावट देखकर उन्हें मुझ पर कुछ-कुछ संदेह होने लगा। अब तो मैं घबरा उठा, क्योंकि मेरा लिखना पिताजी खूब पहचानते थे । उन्होंने दीवार की लिखावट को कई बार देखा, और अंत में पूछ बैठे—"क्योंजी, दीवार पर तुमने यह क्या लिखा है ?"

मैं बड़े असमंजस में पड़ा कि क्या कहूँ और क्या न कहूँ। पंडितजी पर मुझे और भी गुस्सा आने लगा। पहले तो मैंने बहुत टाल-मटोल की, पर इससे काम न चलते देख अंत में मैंने सच-सच बात बतला दी; साथ ही बालक-जाति के प्रति पंडितजी के दुर्व्यवहार का हाल भी कह दिया ।

पिताजी नाराज तो बहुत हुए, पर मेरी सचाई पर प्रसन्न भी हुए; इससे मुझे दंड देने का प्रश्न ही न उठा। पंडितजी ने तो वैसे संगीन जुर्म के लिये मेरे वास्ते फाँसी की ही सजा

तजवीज़ की होगी। पर मुझे साफ़ बचते देखा, तो आपके चेहरे पर उदासी छा गई। अंत में पिताजी के साथ मैं घर वापस आया, और दूसरे लोग भी मेरी सचाई तथा बहादुरी की प्रशंसा करते हुए घर गए।

नवाँ परिच्छेद

अँगरेज़ी स्कूल में

इसके बाद मेरा घर से निकलना एकदम बंद कर दिया गया। मेरी उसी प्रकार निगरानी होने लगी, जिस प्रकार क़ैदियों की होती है। उस पर तुर्रा यह कि पिताजी ने पहले की तरह मुझे फिर पढ़ाना शुरू कर दिया। यह कैफ़ियत लगभग महीने-भर रही, और मेरी तंदुरुस्ती फिर मिट्टी में मिलने लगी। उसके बाद एक दिन पिताजी ने मुझे अपने साथ ले जाकर शहर के एक बड़े स्कूल में भरती कर दिया, और वहीं बोर्डिंगहाउस में रहने का भी बंदोबस्त कर दिया। यह काम इतनी जल्दी हुआ कि मुझे यह सोचने का भी मौक़ा न मिला कि क्या हो रहा है, नहीं तो शायद मैं बिना कुछ कहे-सुने इस प्रकार अपने को जंजाल में न फँसा बैठता। पर तो भी घर की क़ैद से यहाँ का आना कुछ ज्यादा बुरा न था।

रेल का सफ़र मेरे लिये एकदम नई बात थी। यात्रा के लिये कोई ऐसी बड़ी सवारी भी हो सकती है, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था। ऐसा ज़बरदस्त एंजिन और ऐसी ज़बरदस्त केराचियाँ कि हाथियों के दल भी उनकी सूरत देखकर दंग रह जायँ, और ऐसी ज़बरदस्त चमचमाती

हुई पटरियाँ कि हज़ारों क्या, लाखों चमचमाती हुई तलवारें उन पर निछावर थीं। फिर आदमियों का वह मेला, जिससे पतझड़ की पत्तियाँ भी मात थीं, और स्टेशनों पर वह चहल-पहल कि सर्द मिज़ाजवालों के भी दिमाग़ गरमा उठें! बातचीत का ऐसा ज़ोर कि अपनी ही बात अपने को न सुनाई दे। सच कहता हूँ कि मैं तो दंग रह गया।

सफ़र छोटा था—क्षण-भर बाद उतरना पड़ा। फिर एक दूसरे ही क़िस्म की सवारी करनी पड़ी, जो 'इक्के' के नाम से प्रसिद्ध है। मैं तो तरुनी के ही इक्के-दुक्कों से बेहद भय खाता था, इस इतने बड़े इक्के को देखकर तो मेरे प्राण सूख गए। पहले तो मेरी समझ ही में न आया कि इसमें बैठने की जगह कौन है, फिर बहुत अक़्ल दौड़ाने के बाद मैंने उसकी छतरी को इस काम के लिये पसंद किया, पर देखा, तो पिताजी उसके नीचे उस भाग में बैठ रहे थे, जिसे मैं इक्केवाले के बैठने की जगह समझ रहा था। यह मेरी समझ में ही नहीं आया कि उतनी थोड़ी जगह में एक आदमी से अधिक कैसे बैठ सकता है। मैं छतरी पर चढ़ने की ताक में था ही कि पिताजी ने मुझे भी अपने ही पास बैठने को कहा। अब तो मैं झल्ला उठा और बोला—"वहाँ कहीं जगह भी है कि बैठें ही!" यह सुनकर इक्केवाला तो मानो चौंक पड़ा, और इतना आगे सरककर बैठ गया कि घोड़े की दुम से जा मिला। पिताजी भी अपने बग़ल की डेढ़ बालिश्त-भर

जगह की ओर इशारा करके बोले—"देखो न, जगह तो है।" खैर, मैं जैसे-तैसे दब-दबाकर बैठ गया।

हम लोगों को इक्के पर बैठे-बैठे बहुत देर हो गई, पर इक्का टस-से-मस न हुआ। धूप इतनी तेज़ थी कि मेरा सिर भन्ना उठा। पहले तो जी में आया कि चाबुक लेकर इक्केवाले पर पिल पड़ूँ और पैदल घर का रास्ता लूँ, पर कुछ सोचकर रह गया। यह भी ख़याल हुआ कि शायद इस अद्भुत सवारी का यही दस्तूर हो कि बैठनेवालों को बिना काफ़ी धूप खिलाए ले चलना नामुनासिब समझा जाता हो।

मैं जानता हूँ कि संसार में ऐसी कोई चीज़ नहीं, जिसका कोई-न-कोई इस्तेमाल न हो। पर एक चीज़ का इस्तेमाल, हज़ारों यत्न करने पर भी, आज तक न जान सका। अच्छा, पाठको! आप ही बतलाइए कि इक्के की छतरी से क्या काम निकलता है?

मालूम होता है कि इक्केवाला भी इतनी देर में गरमा उठा, तभी बार-बार रह-रहकर चिल्लाने लगा। जैसे ही मुझे मालूम हुआ कि वह तीसरी सवारी को फ़िक्र में है, मेरी देह में मानो आग लग गई और मैं इक्के से उतरनेवाला ही था कि एक ज़बरदस्त तोंदियल जीव इक्के को मचमचाता हुआ उस पर आ डटा। अब उतरने की कौन कहे, मेरे लिये तो साँस लेना भी कठिन हो गया। उस मोटे आदमी तथा पिताजी के बीच में मेरी उस समय वही हालत हुई, जो चक्की

के दो पाटों के बीच में अनाज के दाने की होती है। सच कहता हूँ, टीन में बंद मछलियों को भी उससे ज्यादा जगह मिलती है, जितनी उस समय मुझे मिली। पर क्या किया जाता; संसार में रहकर बहुत-सी बातें सहनी पड़ती हैं।

खैर, राम-राम करके इक्का चला, पर अजब ढंग से। हंस, हाथी सभी उसकी चाल पर निछावर थे। झूले और हिंडोले तथा उसी जाति की और चीजें उसके सामने कुछ भी न थीं। आगे की ओर चलने के साथ-ही-साथ वह दाएँ-बाएँ भी चलता था, और मिनट-मिनट में दाहनी से बाईं ओर, बाईं से दाहनी पटरी पर हो रहता था। हम लोगों को सेकंड-सेकंड में ऐसे जबरदस्त धक्के लगते थे कि कसे हुए बैठे होने पर भी सारी-की-सारी हड्डियाँ खड़खड़ा जाती थीं। उसके पहियों की चाल के साथ-साथ हम लोग कभी दाहनी ओर, कभी बाईं ओर उछाल दिए जाते थे, और भरपूर ताक़त से उसके डंडों को पकड़े रहने पर भी यह मालूम होता था कि कहीं हम लोग आकाश की हवा न खाने लगें। अब इक्के की छतरी का, जिसे मैं अब तक व्यर्थ समझे बैठा था, उद्देश्य समझ में आ गया। वे इसलिये लगाई जाती हैं कि अगर पहियों के ऐंड़े-बेंड़े झोंकों से कोई इक्का-सवार उड़कर आकाश-मार्ग का रास्ता लेने लगे, तो उसे रोक रक्खें।

सारी देह की हड्डियाँ तो चूर्ण हुई जाती थीं, पर पैर मजे में बाहर की ओर लटके हुए हवा खाते चल रहे थे। कहीं पहियों के संसर्ग से उनकी काया-पलट न हो जाय, इस खयाल

से उन्हें उसी प्रकार ताने रहना पड़ता था, जैसे दुलत्ती चलाने के पहले घोड़े पिछली टाँगें तान लेते हैं।

मैं इक्केवाले को अस्पताल के रास्ते चलने का आदेश देनेवाला ही था, जिससे हम लोग वहाँ अपनी-अपनी हड्डियाँ-पसलियाँ दिखलाते हुए चलें, पर उसी समय एक दूसरा ही मामला उठ खड़ा हुआ। बात यह हुई कि घोड़ा, शायद यह समझकर कि एक साँस में इतनी दूर चलना काफ़ी है, एकाएक बिना कोई नोटिस दिए अटक रहा। उधर उसका रुकना था, इधर हम लोगों के सिर परस्पर एक दूसरे से टकरा गए। हमारे उस तोंदवाले साथी का सिर सचमुच बड़ा ज़बरदस्त निकला, क्योंकि हमारे सिर की टक्कर के साथ-साथ उसे छतरी के एक पाए से भी मोरचा लेना पड़ा। बेचारा उसे पकड़कर बैठ रहा, पर लहू की धार बिना निकले कब माननेवाली थी? निदान, मेरे बिना कहे हुए ही अस्पताल होते हुए चलने की ठहर गई।

पर घोड़े ने साफ़ जवाब दे दिया। वह शायद हम लोगों के प्रस्ताव से सहमत नहीं था, अथवा उसे उस समय हरी-हरी घास चरने का ख़याल आ रहा था। जो कुछ हो, इक्केवाले के हज़ार यत्न करने पर भी वह अपने स्थान से एक इंच भी न हिला। इस पर जब इक्केवाला चाबुक जमाने लगा, तब घोड़े ने कई पग पीछे हटकर इक्के में ऐसे ज़ोर का झटका मारा कि इक्का एकदम उलट पड़ा, और हम सब-के-सब ज़मीन पर आ रहे। बेचारा इक्केवाला तो कलाबाज़ियाँ खाता हुआ नाली

में हो रहा, और घोड़ा खुशी से हिनहिनाता हुआ, इक्के को एक पेड़ के हवाले कर सैर-सपाटे के लिये एक ओर चल दिया।

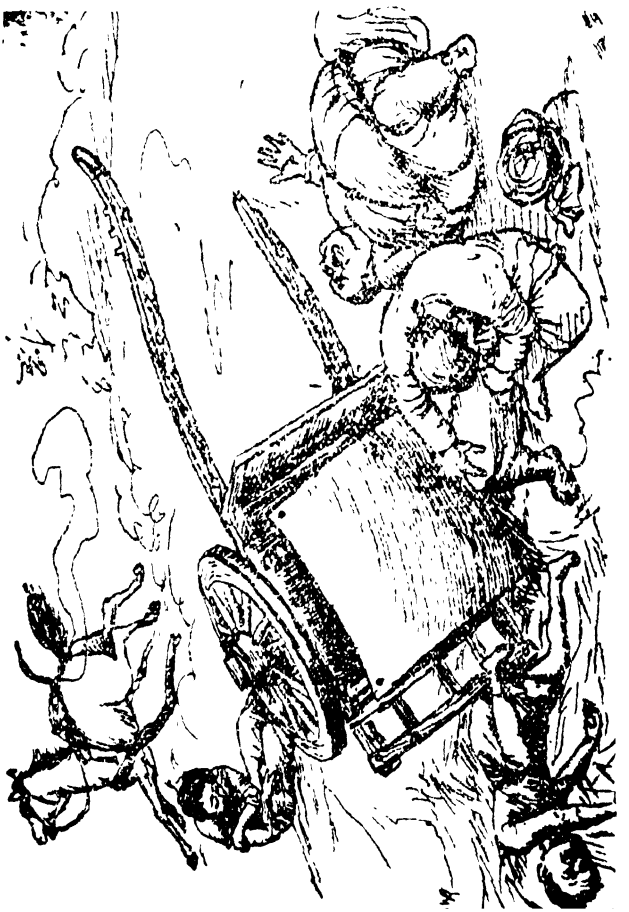

ऐसे ज़ोर का झटका मारा कि इक्का एकदम उलट पड़ा।

हम लोग भी धूल झाड़ते हुए उठे। इक्केवाला भी नाली से 'अख़थू, अख़थू' करता बाहर निकला। वह तोंदवाला भी पेट सुहलाता और इक्केवाले को गालियाँ देता हुआ उठ बैठा। पर इक्केवाला घोड़े को मना लाने की फ़िक्र में था, वह कब किसी की सुनता था। पिताजी भी मुझे साथ लेकर पैदल ही चल पड़े।

थोड़ी ही देर बाद हम लोगों ने लाल ईंटों की एक पक्की इमारत के अंदर प्रवेश किया। बाहर से देखकर तो मैं उसे जेल समझा था, और मेरा ख़याल था कि शायद पिताजी अपने किसी असामी से मुलाक़ात करने जा रहे हैं, पर अंदर जाते ही मुझे अपनी भूल मालूम हो गई। अब मैंने जाना कि वह अपराधियों का जेलख़ाना नहीं, किंतु निरपराध बालकों का कारागार था।

मैंने देखा, सैकड़ों छोटे-छोटे लड़के बँधुओं की तरह तिपाइयों पर सिकुड़े बैठे हैं। उनमें से हरएक के आगे एक-एक ढालू मेज़ रक्खी हुई थी, जिसका उद्देश्य लोगों की जान में तो यह था कि लड़कों को लिखने में सुबीता हो, पर वास्तव में, मेरी समझ में, उनके रक्खे जाने का यह मंशा था कि लड़के इच्छानुसार देह तक न हिला सकें। जिस प्रकार भेड़ें बाड़े में एक दूसरे से सटाकर बंद की जाती हैं, या जिस प्रकार मछलियाँ टीन के डिब्बों में पैक की जाती हैं, वही हालत बेचारे लड़कों की थी। बेचारों को

इधर-उधर देखने और परस्पर बातचीत करने की भी इजाज़त न थी।

ये हाल-चाल देखकर मैं तो सन्न रह गया। मुझे गाँव की, घर की और मा की रह-रहकर याद आने लगी, और मैं पिताजी से घर वापस चलने का बार-बार आग्रह करने लगा। पर पिताजी ने एक न सुनी, और एक छोटे-से कमरे में ले जाकर मुझे कोट-बूटधारी एक मूर्ति के सामने खड़ा ही कर दिया। मैं उस समय कुछ घबरा-सा गया था, इसी से पिताजी और उस मूर्ति में जो-जो बातें हुईं, उन्हें सुन न सका। हाँ, थोड़ी देर बाद एक चपरासी मुझे अपने साथ ले जाकर एक दर्जे में बैठा आया। मालूम हुआ कि मैं तीसरे दर्जे में भरती हो गया हूँ।

तबीयत तो मेरी उस दिन सुस्त थी ही, दर्जे की पिछली बेंच पर बैठते-ही-बैठते मुझे एकदम ऐसी नींद आई कि तन-बदन का भी होश न रहा। उस दिन दर्जे में क्या हुआ, इसकी मुझे ज़रा भी खबर न हुई।

अंत में घंटे की ज़ोरदार आवाज़ से मैं जाग उठा। मालूम हुआ कि छुट्टी हो गई है, क्योंकि लड़के उसी ढंग से अपने-अपने बस्ते दबाकर एकदम भाग खड़े हुए, जैसे किसी घर में आग लग जाने से उसके रहनेवाले बोरिया-बँधना बाँधकर भाग खड़े होते हैं। मैं भी आँख मलता उठा। बाहर आते ही पिताजी से भेंट हुई। देखा, तो वह बाज़ार से मेरे लिये दरी

इत्यादि ज़रूरी सामान ले आए हैं। बातचीत करने का मेरा उस समय बिलकुल ही जी न था, इससे पिताजी ने जो कुछ पूछा, उसे 'हाँ', 'ना' में ही टालता गया। ज़रा देर बाद हम लोग उस स्थान पर पहुँचे, जो बोर्डिंग-हाउस कहलाता है। वहाँ पर मेरे लिये जगह का पहले ही से प्रबंध था। सारा सामान वहीं पर रखवाकर तथा मेरे खाने-पीने का प्रबंध करके पिताजी शाम को घर रवाना हो गए। किताब, कापियों तथा और खर्चों के लिये मुझे कुछ रुपए देते हुए यह समझा गए कि बहुत अच्छी तरह हँसी-खुशी से रहना।

दसवाँ परिच्छेद

बोर्डिंग-हाउस में

मिठाई भी वास्तव में क्या ही अद्भुत चीज़ है! यदि मेरा बस चलता, तो मैं इसे संसार की अद्भुत वस्तुओं की सूची में अवश्य लिख देता। ज़रा सोचिए तो, इसमें कितने गुण भरे हुए हैं। संसार के सब बड़े-बड़े काम इसी की सहायता से होते हैं। विवाह, यज्ञोपवीत, पुत्र-जन्म, यहाँ तक कि मृतक-संस्कार भी बिना इसकी सहायता के नहीं हो सकते। मित्रता और प्रेम का भी यही जन्मस्थान है, और उन्हें क़ायम रखने के लिये भी समय-समय पर इसकी आवश्यकता बनी ही रहती है। दुख और चिंता के लिये तो यह 'रामबाण' है। आप कितने ही चिंतित क्यों न हों, ज़रा थाड़ा-सा क़लाक़ंद या दो-चार पेड़े खा लीजिए, देखिए, क्या मज़ा आता है। मैं यह बात दावे से कहता हूँ कि आपकी चिंता काफ़ूर हो जायगी, और तबीयत बाग़-बाग़ हो उठेगी। यह मेरा पचासों दफ़े का आज़माया हुआ नुस्ख़ा है। हाँ, इतना ज़रूर है कि रोग के अनुरूप ही इसकी मात्रा भी होनी चाहिए। अधिक चिंता, शोक या दुख के समय इसकी साधारण ख़ुराक से काम न चलेगा—उस समय अकेला क़लाक़ंद या पेड़ा पूरा फ़ायदा नहीं पहुँचा सकता।

ऐसे अवसरों पर बहुत जरूरी है कि किसी आगरेवाले की या बंगाली मिठाईवाले की दूकान को शरण ली जाय ; ठीक उसी प्रकार जैसे सख्त बीमार होने पर किसी बड़े डॉक्टर या वैद्य-हकीम की शरण ली जाती है।

पिताजी के घर वापस जाने तथा अपने अकेले रह जाने का मुझे जो रंज हुआ, उसे मैंने इसी इलाज से दूर किया। बाहर जो सायबान में निकला, तो क्या देखता हूँ कि एक खोंचेवाला डटा हुआ है। तबीयत फड़क उठी—क्योंकि मैं तो स्वयं उस समय उसकी तलाश में था। खाते-खाते जब पेट में रंज के लिये जरा भी स्थान न रह गया, तभी मैंने खाना बंद किया। उसी समय मैंने कुछ जलेबियों की मदद से दो-एक दोस्त भी बना लिए। खोंचेवाले को कुल दो रुपए देना पड़े, जिसमें से कुछ पैसे वापस मिले। यदि किसी दो रुपएवाले डॉक्टर को उसकी फीस देकर अपना इलाज कराता, तो उससे उस लाभ का सौवाँ हिस्सा भी हासिल न होता, जो मुझे उससे कम खर्च में खोंचेवाले के द्वारा प्राप्त हुआ। मेरा तो खयाल है कि एक-एक खोंचेवाला सौ-सौ डॉक्टरों के बराबर है।

इस प्रकार दिल से रंज को निकालकर मैं अपने नए दोस्तों के साथ बोर्डिंग के सहन से बाहर निकल फील्ड में पहुँचा। देखा, तो फुटबाल हो रहा है। यह खेल मैंने उसी दिन पहले-पहल देखा था। बस, उसे देखना था कि मैं उस पर लट्टू हो गया। खेलने के लिये मेरा दिल रह-रहकर मचलने लगा।

अंत में जब न रहा गया, तो बिना किसी से पूँछे-जाँचे मैं भी जाकर उसमें शामिल हो गया।

खेल यद्यपि मेरे लिये एकदम नया था, पर जाते-ही-जाते गेंद पर मैंने जो कसकर दो-चार ऐंड़े-बेंड़े वार किए, तो लोगों की नानियाँ मरने लगीं। कोई दाँत पीसने लगा, कोई नियमों की दुहाई देने लगा और कोई मुँह बनाने लगा।

खिलाड़ियों में एक बड़ा-सा लड़का था, जिसकी सूरत मुझे बिलकुल पसंद न आई। आपने डाढ़ी मूड़वा ली थी और मूँछों को अजब ढंग से कटा लिया था; सींग तुड़ाकर बछड़ों में मिले हुए-से जान पड़ते थे। दुबले-पतले तो आप ऐसे थे, जैसे लोहे की पतली छड़। ऐसा जान पड़ता था, मानो आपको बरसों से रोटी-दाल के दर्शन नहीं हुए हैं। हाँ, कपड़े आपके बहुत नफ़ीस थे—कुछ ढीले तो ज़रूर थे, पर साफ़ इतने थे कि सारी फ़ील्ड पर आप-ही-आप नज़र आते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार के फूल-पत्तों के बीच में जिस प्रकार पोस्ते का फूल शोभा देता है, उसी प्रकार दूसरे लड़कों के बीच में आप शोभा दे रहे थे। आपका रक्त-विहीन शरीर आपके वस्त्रों की सफ़ेदी को और भी बढ़ा रहा था। मैं समझ गया कि आप उन लोगों में से हैं, जो कपड़ों पर भोजन को न्योछावर कर देते हैं।

खैर, इन सब बातों की मुझे कोई परवा न थी, पर वह बात जो मुझे बहुत बुरी मालूम हुई, आपके नख़रे थे। चलना

गेंद को जगह आप ही 'किक' की चपेट में आ गए।

और दौड़ना तो मानो आपने किसी मोर से सीखा था। गेंद के निकट जाते तो आपकी नानी मरती थी, पर दूसरे खिलाड़ियों से तरह-तरह की बकवाद करने में आप पूरे मर्द थे। किसी को कुछ कहते और किसी को कुछ। थोड़ी ही देर में मेरा भी आपने कई दफ़ा मज़ाक़ उड़ाया। मैंने भी सोच लिया कि बचा को इसका मज़ा चखाए बिना न रहूँगा।

इस प्रकार के ख़याल मेरे दिल में उठ ही रहे थे कि गेंद लुढ़कता हुआ मेरे पास आ पहुँचा। मैं उसमें 'किक' लगाने-वाला ही था कि उसके पीछे-पीछे वह महाशय भी टाई फहराते हुए आ पहुँचे, और लगे मुझसे गेंद छीनने। परिणाम यह हुआ कि गेंद की जगह आप ही उस किक की चपेट में आ गए, और फ़ील्ड की हरी-हरी घास के साथ मानो पुरानी दोस्ती निभाने लगे। मैं उन्हें एक-दो और किक जमानेवाला ही था कि सारे खिलाड़ी और दर्शक विद्यार्थी "मास्टर साहब", "सुपरिंटेंडेंट साहब" इत्यादि आवाज़ें लगाते उधर दौड़ पड़े, और मुझे एक ओर हटाकर उन महाशय को फिर टाँगों के बल खड़ा करने का इंतज़ाम करने लगे। अब मुझे मालूम हुआ कि जिसे मैं अब तक एक बदमिज़ाज लड़का समझे हुए था, वह वास्तव में लड़कों का मास्टर और बोर्डिंग-हाउस का सुपरिंटेंडेंट था। सचमुच बड़ा धोखा हुआ। कुछ समझ में ही न आया कि क्या करूँ। अंत में दबता-दबता उनके पास पहुँचा और माफ़ी माँगने लगा। पर सुपरिंटेंडेंट साहब

कुछ बोले नहीं, केवल मेरी ओर अपनी बड़ी-बड़ी आँखें निकालकर रह गए। करते ही क्या, खेल में तो ऐसे मामले हुआ ही करते हैं। हाँ, इतना ज़रूर हुआ कि सुपरिंटेंडेंट साहब के चेहरे का भाव देखकर मैंने उस दिन अधिक खेलना उचित न समझा। उधर वह ख़ुद भी फ़ील्ड के बाहर कुर्सी पर बैठकर जंबक की मालिश कराने लगे।

इसके बाद थोड़ी देर इधर-उधर घूम-घामकर मैं अपने कमरे को वापस गया। बोर्डिंग के प्रायः सभी लड़के खेल-कूद से छुट्टी पाकर अब तक फ़ील्ड से वापस आ चुके थे। मुझे देखते ही उन सबों ने मुझे दौड़कर घेर लिया, और लगे फ़ील्ड पर के उस मामले का ज़िक्र करने। किसी ने वाह-वाह के नारे लगाने शुरू किए और कोई मेरी पीठ ठोकने लगा। एक ने तो यहाँ तक ख़ुशी ज़ाहिर की कि मुझे कंधे पर चढ़ाकर सारे बोर्डिंग-हाउस में घुमा लाया। मुझे भी मालूम हो गया कि सुपरिंटेंडेंट साहब ऐसे सज्जन हैं कि इतने लड़कों में एक भी उनसे सहानुभूति करने को तैयार नहीं।

उस दिन मुझे सुपरिंटेंडेंट साहब की बाबत अनेक क़िस्से सुनने को मिले। यह भी मालूम हुआ कि लड़कों के साथ दुर्व्यवहार करने में आप जितने कुशल हैं, अफ़सरों के सामने चापलूसी करने में भी आप उतने ही दक्ष हैं। आपके इसी गुण पर मुग्ध होकर हेडमास्टर महोदय

ने आपको सुपरिंटेंडेंटी का पद दिया था। आपमें दूसरा गुण यह है कि आप किसी का एहसान नहीं रखते। यही तो कारण है कि हेडमास्टर की कृपा के बदले में आप चौथे दिन उनके यहाँ कोई तोहफ़ा भेजे बिना नहीं रहते। आपकी राय में दुनिया में जो ईश्वर का स्थान है, स्कूल में वही हेडमास्टर का है; इसी कारण ईश्वर की तरह हेडमास्टर को प्रसन्न रखना भी जरूरी है—बल्कि उससे भी अधिक; क्योंकि ईश्वर तो न-जाने कहाँ रहता है, और उससे तो मौत या बीमारी के ही समय काम पड़ता है, पर हेडमास्टर साहब की प्रत्यक्ष मूर्ति के तो प्रतिदिन दर्शन होते हैं, और उन्हीं के कृपाकटाक्ष के बल पर रोज़ की रोटी चलती है।

सुपरिंटेंडेंट साहब स्वयं अफ़सरों के साथ जैसा व्यवहार करते थे, छात्रों से अपने प्रति वैसे ही व्यवहार की आशा भी रखते थे। यदि कोई विद्यार्थी स्वयं अपनी ओर से उनके लिये कोई तोहफ़ा न लाता था, तो वह उसे उसके कर्तव्य का उपदेश देने में ज़रा भी कोर-कसर न रखते थे। क्यों न हो, मास्टर का कर्तव्य ही है कि छात्रों को ठीक रास्ते पर लावे। इतने पर भी यदि कोई छात्र सुपरिंटेंडेंट साहब के खरे उपदेश को न मानता था, तो आप दूसरे ही ढंग से काम लेते थे। जब वह किसी छुट्टी में गाँव जाने लगता, तो उससे राब, गुड़, भूसा इत्यादि की फ़रमाइश कर दिया करते थे, और इन वस्तुओं के आ जाने पर

उनकी क़ीमत का ज़िक्र कभी न करते थे। संभव था कि स्मरण-शक्ति की कमज़ोरी के कारण वह ऐसा करते हों। क्योंकि यदि कोई निलज्ज विद्यार्थी उनसे कभी तक़ाज़ा कर बैठता था, तो आपको इतना आश्चर्य होता था, मानो आपको किसी भूत के दर्शन हो गए हैं। आप सिर को हाथ से सुहलाने लगते, और उस बात के याद करने की कोशिश करते कि आपने कब वह वस्तु मँगाई थी। बड़ी देर में कहीं आपको याद आती थी, और तब अगले महीने की तनख़्वाह मिलने पर दाम देने का वादा कर देते थे। पर वह अगला महीना कभी न आता था। यदि फिर कभी तक़ाज़ा हुआ, तो फिर अगले महीने की तनख़्वाह पर मारा मामला अटका देते थे। इसी तरह महीने क्या, बरसें गुज़र जाती थीं, पर लड़कों के दाम चुकता करने की नौबत न आती थी।

यहाँ यह न समझना चाहिए कि तोहफ़े देने की रस्म विद्यार्थी को एक ही दफ़ा पूरी करनी पड़ती थी। देवता कहीं एक बार की पूजा से प्रसन्न होते हैं! एक तोहफ़े का असर एक सप्ताह या अधिक-से-अधिक पंद्रह दिन से ज़्यादा नहीं रहता था। तोहफ़ा पाने के एक सप्ताह के अंदर तक आप तोहफ़ा देनेवाले पर बड़े प्रसन्न रहते थे—उससे हँसकर बोलते और कभी-कभी उसके माता-पिता की कुशल-क्षेम भी पूछ लेते थे। पर इसके बाद तोहफ़े का असर कम होने लगता था, और कुछ दिन बाद तो बिलकुल ही ग़ायब

हो जाता था। तब फिर आप मुँह फुलाकर और भौंहें चढ़ाकर बातचीत करने का सिलसिला छेड़ देते थे। हाँ, यदि इस बीच में दूसरी भेंट मिल जाती थी, तो सब मामला ठीक हो जाता था।

इस प्रकार की बातों से बेचारे लड़के बड़े परेशान रहते थे। यही कारण था कि आज मेरे द्वारा धोखे में उन महाशय की मरम्मत होते देख उन सबके दिल खिल उठे। बोर्डिंग-हाउस में पहले ही दिन मेरा ऐसा रोब छा गया, जैसा कि वर्षों की तपस्या के बाद भी नेपालियन फ्रांस पर हासिल न कर सका था।

रात का दस बजते-बजते सारे बोर्डिंग-हाउस में सन्नाटा छा गया। हाँ, जहाँ-तहाँ से खर्राटे की आवाजें जरूर आ रही थीं। मेरे कमरे के साथियों में भी एक साहब खर्राटे-वालों में से थे। उनके कारण मेरी नींद आ-आकर रह जाती थी। मैंने अनेक बार सोने का प्रयत्न किया, पर सफल न हुआ। पाठको! आप ही बतलाइए, यदि आपके कानों के पास रात-भर मोटरकार या वायुयान का एंजिन गड़गड़ाता रहे, तो क्या आप सो सकेंगे? सोने की तो दूसरी बात है, यदि ऐसी हालत में आप पागल होकर चारपाई से भाग न खड़े हों, तो आश्चर्य है। एक बार मैंने उन महाशय को जगाकर सारी बात समझा भी दी, और उन्होंने भविष्य में मेरे कानों पर दया करने का वचन भी दिया, पर जरा देर बाद वही पुराना ढंग फिर जारी हो गया।

अब तो मेरे सब्र का अंत हो गया, और मैं चारपाई पर उठ बैठा। मरीज़ों की तरह पड़े-पड़े करवटें बदलने से उठकर बैठना कहीं अच्छा था। मैंने देखा कि वह महाशय मुँह खोले चारपाई पर लेटे हुए हैं, और बिना किसी संकोच के मेरे कानों के परदे फाड़ रहे हैं। पहले तो मैंने कमरे से निकलकर बाहर सोने का विचार किया, पर यह सोचकर कि रोज़-रोज़ इस भाँति कहाँ तक काम चलेगा, मैंने अपने साथी के ही निद्रा-संबंधी प्रोग्राम में उचित सुधार करने का निश्चय किया। कमरे के अन्य सभी विद्यार्थी सो रहे थे; इससे यह काम मुझे अकेले ही हाथ में लेना पड़ा।

मैं इस उधेड़-बुन में पड़ा ही था कि मुझे अपने ट्रंक में बंद शिकार में प्राप्त किए हुए सामान की याद आ गई। मैं अपना सभी सामान साथ लेता आया था, ताकि मौक़ा-बेमौक़ा काम आए। फिर क्या था, चुपचाप ट्रंक खोल कोई आधी दर्जन छिपकलियाँ और दो-एक मेंढक हाथ में ले चारपाई पर हो रहा, और उन्हें अपने सिरहाने दरी के नीचे छिपाकर रख दिया। फिर एक छिपकली लेकर, चारपाई से उतरे बिना ही, हाथ बढ़ाकर उसे उन खर्राटू महोदय के खुले हुए मुख में चुपचाप रख दिया। मेरा इतना करना था कि आप भरभराकर उठ खड़े हुए, और लगे ज़ोरों से खाँसने-खखारने, और हाय-तोबा मचाने—"अरे साँप है साँप! ओ कामता! कामता!! ओ बुद्धू! बुद्धू!! लालटेन जलाओ।" कमरे के सारे लड़के हड़बड़ाकर

उठ बैठे, और घबराहट के साथ दियासलाई ढूँढ़ने, इसके ढूँढ़ने में आलमारियों का सामान गिराने और एक दूसरे के हाथ-पैर कुचलने लगे। सबके बाद मैं भी जगा, और मित्रों की अपील सुनकर दियासलाई ढूँढ़ने में लग गया। पर दियासलाई भला कब मिलनेवाली थी! हाँ, इतना जरूर हुआ कि पैर लग जाने से आलमारी के पास रक्खा हुआ मिट्टी का एक घड़ा बेचारा कूच कर गया, और उसका पानी फ़र्श पर रक्खे हुए जूतों की बलैयाँ लेने लगा। उधर हम लोगों की चिल्ल-पों से तमाम लड़के जाग पड़े, और क्या वाक़िया हुआ, यह जानने के लिये वहाँ एकत्र होने लगे। ख़ैर, बड़ी मुश्किल से दियासलाई मिली।

लालटेन के जलने पर अब साँप की खोज होने लगी। संदूक उठाकर, चारपाइयों के नीचे झाँककर और खिड़की के रास्ते नज़र दौड़ाकर खूब खोज हुई, पर साँप का पता न चला। हाँ, उन्हीं महाशय की चारपाई पर एक भीगी हुई छिपकली मिली; पर वह मरी हुई थी। जब लड़कों ने यह समझा कि इसी छिपकली के उन महाशय के मुँह में प्रविष्ट हो जाने से इतनी आफ़त मची हुई है, तब तो उनकी हँसी का ठिकाना न रहा। फिर प्रश्न हुआ कि छिपकली मरी कैसे? इस संबंध में यह निश्चित हुआ कि खर्राटू महोदय का कोई दाँत बेचारी के कहीं ठोर-कुठौर लग गया होगा।

खर्राटू बेचारे अब बहुत झेंपे। आप शहरी जीव थे, इससे नज़ाकत भी आपमें कुछ कम न थी—नतीजा यह हुआ कि

छिपकली की याद से ही आपकी दाँती बँधने लगी। बेचारे को कई दफ़ा क़ै भी होते-होते बची। आपको उस कमरे में आने से भी परहेज़ होने लगा. और यदि बरसात का ज़माना न होता, तो आप अपनी चारपाई वहाँ से ज़रूर उठवा ले जाते। तो भी आपने इतना तो किया ही कि सोने के पहले मुँह को भली भाँति चद्दर की कई पर्तों से लपेट लिया।

इसके कुछ ही देर बाद, ठीक उसी समय जब कि मैं सोने-वाला ही था कि वही पूर्व-परिचित खर्राटे की आवाज़ फिर मेरे कानों में गूँजने लगी। मुँह धोने और कुल्ली करने से खर्राटू साहब का गला ख़ूब साफ़ हो गया था—शायद यही कारण था कि मुँह के ढके होने पर भी आवाज़ पहले की अपेक्षा अधिक ज़ोरदार थी। अब तो मैं बेचैन हो उठा। ख़ैर, मैंने फिर सिरहाने हाथ डाला, और शिकार के जितने स्मारक हाथ में आए, उन सबको ले, अपने मित्रवर की चारपाई के पास जा उनके ढीले-ढाले मलमल के कुर्त की आस्तीन में डाल दिए, और फिर उनका हाथ पकड़कर ऐसा झटका दिया कि सारे-का-सारा सामान कुर्ते के अंदर उनकी छाती पर लोटने लगा। इतना करके पलक मारते फिर अपनी चारपाई पर हो रहा।

बस, फिर क्या था, पहले की तरह फिर गोलमाल होने लगा। खर्राटू महोदय इस दफ़ा इतना चीख़े-चिल्लाए, इतना रोए-धोए कि सब कहीं हाहाकार मच गया। बेचारे ने

घबराकर अपना कुर्ता चीर-फाड़कर ठिकाने लगा दिया। हाँ, इतना ज़रूर हुआ कि इस दफ़ा 'साँप' के स्थान में आप 'भूत' की आवाज़ें लगाने लगे। इस दफ़ा भी बोर्डिंग के सारे लड़के कमरे में दौड़ आए; पर सभी नाराज़-से थे। "वाह! यों ही रात-भर शोर करते रहोगे, सोने भी दोगे या नहीं?" "क्या करें, बेचारे बड़े सुंदर हैं, तभी तो साँप और भूत सभी आपके पीछे पड़े रहते हैं!" इत्यादि फ़िक़रे उन पर कसे जाने लगे। पर जब फिर उनके बिस्तरे पर कई एक मरी हुई छिपकलियाँ और मेंढक दिखलाई दिए, तब तो लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। लोगों ने सोचा कि हो न हो, यह भूत-लीला ही मालूम पड़ती है, नहीं तो भला इतने जीव-जंतु बिस्तरे पर मारकर कौन छोड़ जायगा। एक-आध विद्यार्थियों ने कहीं सुन रक्खा था कि भूत ऐसे ही घिनहे जीवों को खाकर गुज़ारा करते हैं—इससे उस शंका की और भी पुष्टि हो गई।

बड़ी देर सोच-विचार के बाद यह निश्चय हुआ कि ऐसे संगीन मामले की ख़बर सुपरिंटेंडेंट साहब को कर देना ज़रूरी है। यद्यपि उनसे अधिक सहायता की आशा नहीं थी; पर तो भी हम लोग उनके दरवाज़े के पास जा उन्हें आवाज़ देने लगे। हाँक-पर-हाँक और आवाज़-पर-आवाज़ लगाने के बाद आप बड़ी मुश्किल से बाहर आए और आँखें लाल-पीली करके पूछने लगे कि माजरा क्या है? हम लोग तो यों ही घबराए हुए थे, उनके चेहरे-मोहरे के तर्ज़ से और

भी भयभीत हो उठे; यहाँ तक कि किसी के मुँह से बोल तक न फूटा। अब तो उनके दिमाग़ का पारा एकदम उबलने लगा और आपने फ़ैशनेबिल हिंदी में इस प्रकार फ़रमाया—"न कोई बाट न चीट; तुम लोगों ने हमको इंसल्ट करना के लिये जगाया। कल सब पर बेट पड़ेगा।" साधारण तौर से सुपरिंटेंडेंट साहब बहुत अच्छी हिंदी बोलते थे; पर ग़ुस्सा आने पर धराऊ भाषा का ही प्रयोग करते थे। जब मैंने देखा कि बेत की नौबत आ रही है, तब मानीटर को पीछे हटाकर मैं ही आगे बढ़ा, और जी कड़ा करके सुपरिंटेंडेंट साहब से यों बोला—"मास्टर साहब! बोर्डिंग-हाउस में भूत हैं।" मेरा इतना कहना था कि आप एकदम उछलकर बोले—"क्यों बे गधे! मुझको डराने आया है। कल टेरी खाल न निकाल लूँ, टबी कहना।" यों कहकर दरवाज़े को धड़ाम से बंद कर आप अंतर्धान हो गए।

हम लोग भी चुपचाप अपने कमरे में आए। यह निश्चय हुआ कि सब लोग होशियारी से सोवें। अदृश्य भूत का इतना आतंक लोगों के दिलों में छा गया था कि सब लोग चाक़ू, छड़ी-लाठी इत्यादि हथियार अपनी-अपनी चारपाइयों पर रखकर सोए। जिनको कुछ न मिला, उन्होंने कंकड़ ही समेटकर बिस्तरे पर रख लिए। कुछ तो इनसे भी गए-बीते थे—वे होल्डर और पिन ही लेकर सोए।

फिर उस रात को और कोई वाक़िया नहीं हुआ।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

स्कूल की पढ़ाई

दूसरे दिन खा-पीकर दस बजते-बजते स्कूल पहुँचा। दर्जे में फिर पिछली क़तार में स्थान मिला, सो भी दो-एक लड़कों से लड़ने-झगड़ने के बाद। वहाँ पिछली जगहों की जो क़द्र थी, वह आगेवालों की नहीं; क्योंकि वहाँ मास्टरों से जितना बचाव रहता था, उतना आगे नहीं। मास्टरों के प्रश्नों के गोले-बारूद प्रायः अगली ही बेंचों में ख़त्म हो जाते थे; हाँ, जब-तब कोई भूली-भटकी गोली पीछे भी आ पड़ती थी। यदि मास्टरों को क्रोध आता था, तो वह भी प्रायः अगली ही बेंचों पर उतर जाता था। इसके सिवा पिछली बेंचों पर बातचीत, चपतबाज़ी, लंगर लड़ाने, मुँह चिढ़ाने और काग़ज़ के गोले बना-बनाकर परस्पर मारने का भी अच्छा-ख़ासा सुबीता रहता था। इसी कारण दो-एक रटटू तोतों को छोड़कर बाक़ी सब लड़के पीछे ही बैठना पसंद करते थे।

घंटा बजा कि लड़के तहज़ीब से बैठने की कोशिश करने लगे। मैंने भी डेस्क से पैर उतार, उस पर गिरी हुई रोशनाई को अपने पड़ोसी की अचकन के दामन से साफ़ कर दिया।

दोस्त के साथ यह व्यवहार बुरा कहा जा सकता है, पर मैंने तो सिर्फ़ उस हँसी का बदला लिया था, जो उसने मेरे देशी जूते को चमरौधा कहकर उड़ाई थी। ग़नीमत हुई कि इसके बाद ही मास्टर साहब आ गए, नहीं तो बहुत मुमकिन था कि कोई और वारदात उठ खड़ी होती।

मास्टर साहब के आते ही कुछ लड़कों ने, जिनमें हमारे पड़ोसी दोस्त भी शामिल थे, अपने साथियों के विरुद्ध शिकायतें और फ़रियादें करनी शुरू कीं। पर सलामत रहें मास्टर साहब, उन्होंने किसी की न सुनी, और उल्टे शिकायत करनेवालों को दो-चार खरी-खोटी सुना दीं—

"तुम लोग बड़े बेहूदे हो। अभी दर्जे में आते देर नहीं और लगे मग़ज़ चाटने। चलो, हम कुछ न सुनेंगे।" सच कहता हूँ, पाठको! इन मास्टर साहब पर मेरी तबीयत इतनी प्रसन्न हो उठी कि अचानक मेरे मुँह से 'वाह-वाह' की आवाज़ निकल पड़ी। इस पर आप एकदम बिगड़ उठे—

"हाँ, यह मुझे शाबाशी कौन दे रहा है? अभी ठीक करता हूँ!" यह कहते हुए आप आगे बढ़े, और मेरी डेस्क के पास आकर मेरे उन्हीं पड़ोसी साहब के सिर और पीठ पर लगे हाथ साफ़ करने। उस बेचारे ने हरचंद इनकार किया, और मुझे अपराधी बतलाने लगा, पर मास्टर साहब ने एक न सुनी, और जी-भर चपतें लगाए बिना न माने।

इतने में आफ़त का मारा अगली बेंच का एक लड़का

दूसरे लड़के से कुछ बातचीत करने लगा। शायद अगले दिन उधार दी हुई अपनी पेंसिल का तक़ाज़ा कर रहा था। बस, मास्टर साहब उसकी ओर लपक पड़े—"क्योंजी, तुम शोर क्यों कर रहे हो? बड़े पाजी हो!" इतना कहकर आपने कस-कर तमाचा उठाया; पर न-जाने क्या समझकर उसे रोक रक्खा। पता नहीं कि आपको उस लड़के पर या उसके अँगरेज़ी काट के सुंदर कपड़ों पर रहम आ गया—पर आपने उसके साथ चपत-बाज़ी का व्यवहार न कर उसे सीधे बेंच पर खड़ा कर दिया।

इसके बाद आप हाँपते हुए कुर्सी पर जा डटे, और थोड़ी देर तक आँखें बंद किए चुपचाप बैठे रहे। मैं समझा था कि नित्य का पाठ प्रारंभ करने के पहले मास्टर साहब शायद अपने इष्टदेव का ध्यान कर रहे हैं, पर लड़कों की कानाफूसी से मालूम हुआ कि मास्टर साहब जब कभी किसी लड़के को पीटते हैं, तो थकान के कारण उसके बाद कुछ देर आराम ज़रूर करते हैं। ख़ैर, कुछ देर बाद मास्टर साहब ने आँखें खोलीं, और धीरे से रजिस्टर को अपनी ओर सरकाया। आँख का इशारा पाते ही दर्जे के मानीटर (बिना तनख़्वाह के चपरासी) ने आलमारी से क़लमदान लाकर मेज़ पर रख दिया। फिर आपने हरएक लड़के का नाम पुकारकर हाज़िरी ली। मेरा नाम सबके अंत में आया।

इसके बाद हाज़िरी जोड़ने और अर्ज़ियों पर दस्तख़त करने में कुछ समय लगा।

फिर हम लोगों को कापियाँ निकालने का हुक्म हुआ। मास्टर साहब ने एक लड़के को खड़िया लाने के लिये दफ़्तर भेजा। एक दूसरा लड़का रोशनाई लाने के लिये भेजा गया। पर अभी उन दोनो में से एक भी वापस न आया था कि घंटा बज गया। लो, पहले घंटे की पढ़ाई समाप्त हो गई।

घंटे की आवाज़ ने मास्टर साहब पर जादू का-सा असर किया। उसकी पहली ही झनकार के साथ आप कुर्सी से उठ खड़े हुए और तीर की तरह दर्जे के बाहर निकल गए। मालूम हुआ कि आप गणित के शिक्षक बाबू गोरूलाल थे। नवाबी ज़माने से आप मास्टरी का काम बड़ी योग्यता-पूर्वक निबाह रहे हैं। गणित आपका ख़ास विषय है और पढ़ा तो इसे आप एंट्रेंस से भी ऊँचे दर्जों को सकते हैं, पर लड़कों की जड़ मज़बूत करने को आप नीचे दर्जों को ही हाथ में लेते हैं। सालाना इम्तहान में आपके पास किसी छोटे दर्जे के हिसाब का पर्चा ज़रूर रहता है, इसी से आपके पास ट्यूशनों की ख़ूब भरमार रहती है। शहर-भर में यह बात प्रसिद्ध है कि आपके पढ़ाए हुए लड़के एम्० ए० के पहले हरगिज़ नहीं रुक सकते।

आप इतने दयालु हैं कि किसी लड़के को अपने घर बुलाकर या उसके घर जाकर पढ़ाने से इनकार नहीं करते। वेतन भी आप बहुत कम लेते हैं। दो, या ज़्यादा-से-ज़्यादा तीन रुपए में आप रोज़ाना दस-बारह घंटे पढ़ाने के लिये

तैयार रहते हैं और साथ ही पास कराने का भी ज़िम्मा ले लेते हैं। तरक़्क़ी भी आपने ऐसी की है, जैसी बिरलों ही के भाग्य में बदी होती है। नवाबी में आप पौने तीन रुपए मासिक के नौकर थे—अब आपको बाईस रुपए मिलते हैं।

दूसरे घंटे के मास्टर आधा समय बीत चुकने के बाद दर्जे में तशरीफ़ लाए। सुनने में आया कि आप हर घंटे एक दर्जे से दूसरे में जाते हुए कुछ देर आराम कर लिया करते हैं। ऐसे मौक़े पर इतने आराम से शायद आपकी थकावट नहीं दूर होती, इसलिये आप जनवासे की चाल चलते हैं। हर घंटे के अंत में यदि आप मास्टरों के आराम करनेवाले कमरे में कुछ देर बैठकर बातें न कर लें, तो शायद आपके हाज़मे में फ़र्क़ पड़ जाया करता है—यह बात मुझे उसी समय लड़कों की ज़बानी मालूम हुई। कभी-कभी तो आप पूरा घंटे-का-घंटा हज़म कर जाते हैं।

ख़ैर, आप आए। आपकी सारी सूरत-शक्ल ऐसी बनी थी कि लोग आपको कोसों से देखकर कह सकते थे कि आप मास्टर हैं। दुबला-पतला चेहरा जिसमें दाहनी ओर बाईं ओर बड़े-बड़े गड्ढे, छोटी घनी डाढ़ी, जिस पर गर्द की एक तह जमी हुई थी (जूँएँ और लीखों का हाल मुझे क्या मालूम), गर्दन इतनी पतली कि सुराही भी लज्जित हो उठे, आँखे—आहा! इतनी छोटी कि देखनेवालों को संदेह हो उठता था कि आप आँखें रखते भी हैं या यों ही चश्मा

लगाए हैं, कमर इल्म के बोझ से झुकी हुई, हाथ की उँगलियाँ सुर्खी स्याही और खड़िए के चूर्ण से पुती हुई, कोट और पायजामा स्याही के धब्बों से किसी रेल के कोयला झोंकनेवाले के कोट को मात करता हुआ, जूते कम-से-कम तिरपन जगह गँठे हुए—ये सब चीज़ें दूर से ही पुकारकर कह रही थीं कि सँभलकर बैठो, मास्टर साहब आ रहे हैं।

आते-ही-आते आपने कुर्सी को इस प्रेम से पकड़ा कि मानो उसी के प्रेम से खिंचकर आपने दर्जे तक आने की तकलीफ़ की है। फिर थोड़ी देर तक चुपचाप बैठकर आपने दर्जे की ओर नज़र फेरी और एक लड़के से पीने के लिये पानी मँगवाया। पानी के आने तक आप फिर कुर्सी के ध्यान में मग्न हो गए। पानी पीकर जब आपका चित्त शांत हुआ, तो आपको याद आई कि बहुत दिन से डायरी नहीं भरी है। चट एक लड़के को भेजकर आपने डायरी मँगवाई। इसके बाद हम लोगों को सबक़ याद करने का हुक्म देकर आप डायरी में कुछ लिखने लगे। थोड़ी देर बाद घंटा बजने पर डायरी बंद करके आपने अपना रास्ता लिया। मुझे यह भी न मालूम हुआ कि आप क्या चीज़ पढ़ाने के लिये तशरीफ़ लाए थे; हाँ, एक लड़के की ज़बानी बाद को जान पड़ा कि आप अँगरेज़ी के मास्टर थे।

तीसरा घंटा भूगोल का था। इसके मास्टर वक़्त के बड़े

पाबंद मालूम होते थे, क्योंकि घंटा बजते-बजते आप एकदम तूफ़ान की तरह दर्जे में दाख़िल हो गए। कुर्सी पर तो आपने नज़र भी न डाली और कूले उछाल-उछालकर दर्जे में इधर-से-उधर, उधर-से-इधर इस प्रकार चक्कर काटने लगे, मानो लड़कों को चलना सिखाने के लिये ही आपका अवतार हुआ हो। आपकी नस-नस में ऐसी फुर्ती समाई हुई थी कि आपका पुर्ज़ा-पुर्ज़ा उछला पड़ता था। आपकी बड़ी-बड़ी मूछें, जो किसी ख़ास प्रकार के ख़िज़ाब के कारण लाल रंग की हो गई थीं, आपको ख़ूब फ़बती थीं। आप बड़े ही प्रसन्न-मुख थे।

आपने आते-ही-आते एक लड़के को नक़शा लाने का हुक्म दिया। बेचारा लड़का दर्जे के बाहर अभी दस क़दम भी न गया होगा कि आप हम लोगों को पढ़ाने के लिये बहुत उतावले हो उठे, और बार-बार "नक़शा अभी तक नहीं आया" कह-कहकर अपनी व्यग्रता प्रकट करने लगे। इसके बाद तुरंत ही आपने दूसरे लड़के को उसी काम के लिये रवाना कर दिया। एक मिनट बाद तीसरा, फिर चौथा, फिर पाँचवाँ लड़का गया। मैं तो समझा था कि मास्टर साहब अब दर्जा ख़ाली किए बिना न मानेंगे कि इतने में पहला लड़का नक़शा लेकर आ पहुँचा। बाक़ी चार लड़के न-जाने कहाँ रह गए। अब मास्टर साहब को उनकी फ़िक्र पड़ गई—"अरे भई, और लड़के कहाँ रह गए?" "कौन-से लड़के, साहब?" "वही, जिन्हें नक़शा लाने के लिये भेजा था।" मैं क्या जानूँ साहब? मुझे तो कोई नहीं मिला साहब।" "अच्छा

जाओ, ज़रा देखो तो कहाँ हैं ?" लड़का फिर चला गया। इसी प्रकार ज़रा-ज़रा देर बाद और भी कई लड़के बाहर भेजे गए, पर पहले गए हुए लड़कों में से कोई बरामद न हुआ। इधर दर्जे के प्रायः सभी लड़के उन्हें ढूँढ़ लाने का भार अपने ऊपर लेने के लिये तैयार हो गए, क्योंकि देर से एक ही स्थान पर बैठे-बैठे शरीर के जकड़े हुए कल-पुर्ज़ों को सीधा करने का यह अच्छा मौक़ा था। कई लड़कों को इसका मौक़ा मिल भी गया, पर जब मास्टर साहब ने देखा कि सारा दर्जा ही बाहर जाने की फ़िक्र में है, तब तो आपने भी कंजूसी अख़्तियार कर ली, और स्वयं लड़कों को ढूँढ़ने के लिये बाहर जाने लगे। पर आपको यह कष्ट नहीं बदा था, क्योंकि इसी बीच में लड़के एक-एक, दो-दो करके वापस आने लगे। अब दूसरा ही मामला शुरू हो गया।

"क्योंजी, तुम अब तक कहाँ थे ? घंटा ख़त्म होने को आ गया ?"

"साहब, आप ही ने तो नक़शा लाने भेजा था !"

"कहाँ नक़शा है ? देखें ?"

"जागरफ़ी-रूम के सारे नक़शे मैंने खोल-खोलकर देखे, पर उनमें ज़िले का एक भी नक़शा न था। वहाँ के सारे कोने, सारी मेजें और डेस्कें भी मैंने देखीं, पर कहीं न मिला। (मेज़ पर रक्खे हुए नक़शे की ओर देखकर) मुझे क्या पता था कि कोई लड़का उसे पहले ही उठा लाया।"

"अच्छा बैठो! आगे कभी नक़शा लाने में इतनी देर न लगाना।"

"बहुत अच्छा, मास्टर साहब!"

दर्जे में कानाफूसी से मालूम हुआ कि ये हज़रत इतना भी नहीं जानते थे कि जागरफ़ी-रूम किधर है, और कच्ची अमियों द्वारा ज़बान का ज़ायक़ा बदलने के लिये पड़ोस के एक बाग़ में गए हुए थे।

फिर दूसरे लड़के से जिरह शुरू हुई।

"क्योंजी, तुम कहाँ गए थे?"

"मुझे आपने लड़कों को ढूँढ़ लाने के लिये भेजा था।"

"फिर उनको ढूँढ़कर फ़ौरन् क्यों नहीं आए?"

"मास्टर साहब, क्या बतलाऊँ; ढूँढ़ने में इतनी परेशानी हुई है कि क्या कहूँ। कम-से-कम छ दफ़ा जागरफ़ी-रूम में, कोई ग्यारह दफ़ा मैदान में, कोई बाईस दफ़ा पाख़ाने में और कोई अड़तालीस दफ़ा कुएँ में पता लगाया, तब कहीं बड़ी कठिनाई से अकेले गोविंद को ढूँढ़ पाया! दूसरों का अब भी पता नहीं।"

"अच्छा बतलाओ, गोविंद तुम्हें कहाँ मिला?"

"गोविंद! गोविंद जागरफ़ी-रूम की तरफ़ से आ रहा था।"

"ख़ैर, बैठो, पर देर करके आना अच्छा नहीं।"

"बहुत अच्छा साहब!"

इस प्रकार की न-जाने कितनी जिरहें हुईं। सारा घंटा यों ही तमाम हो गया। हाँ, इतना जरूर हुआ कि लड़कों को सवाल-जवाब में अच्छी मश्क हो गई। नक़शे के टाँग जाने की भी नौबत न आई। उसे फिर जागरफ़ी-रूम में रख आने का काम एक लड़के को सौंपकर मास्टर साहब चलते बने।

इस प्रकार दिन-भर में कई मास्टर आए और गए, पर बेचारों को ऐसे मामलों का सामना करना पड़ता था कि उनमें से कोई भी दिल खोलकर न पढ़ा सका। हाँ, जिन एक-दो ने थोड़ा-बहुत पढ़ाया भी, उनकी बातें सुनने का या तो मुझे मौक़ा ही न मिला, या उनकी बातें समझ ही में न आईं। हाँ, जब पंडितजी ने हिंदी की किताब लेकर "प्रभुजी तुम चंदन हम पानी"-वाला सबक़ ज़ोरों से पढ़ाना शुरू किया, तब कुछ लुत्फ़ आया। यद्यपि इस सबक़ के मानी-मतलब कुछ मेरी समझ में न आए, पर आप जिस ध्वनि और धुन के साथ उसे पढ़ते थे, उससे तो रह-रहकर मुझे ख़याल आने लगा कि यदि पिताजी अपना सितार मेरे पास छोड़ गए होते, तो बहुत अच्छा होता। ऐसी दशा में मैं पंडितजी से इस बात की प्रार्थना किए बिना हर्गिज़ न मानता कि अगले दिन से आप अपना सबक़ सितार के साथ दिया करें।

ड्रिलमास्टर से मेरी पहले ही दिन से दोस्ती हो गई। आप छोटे क़द के गठीले, चपटी नाकवाले एक सत्पुरुष

थे। पहले ही दिन की क़वायद में जब आपने मेरी फुर्ती देखी और यह भी देख लिया कि उस फुर्ती के कारण मेरा दाहने और बाएं का हिसाब ठीक नहीं बैठता; साथ ही जब यह भी उन्हें मालूम हुआ कि उनके भिन्न-भिन्न अँगरेज़ी के वाक्य-रत्नों का मुझ पर एक-सा ही असर पड़ता है—तब पहले तो उन्होंने झिड़की-घुड़की की सहायता ली; पर जब इन शस्त्रों का वार भी खाली गया, तब उन्होंने मुझसे दोस्ती कर ली। उस दिन से जब तक मैं स्कूल में रहा, दो-चार मौक़ों को छोड़कर उन्होंने कभी मुझसे क़वायद करने का आग्रह नहीं किया। जब वह क़वायद कराते थे, तब मैं प्रायः उनके पास ही खड़ा होकर किसी ऊँचे अफ़सर की तरह अपने दर्जे की क़वायद का तमाशा देखा करता था।

इसके अतिरिक्त स्कूल के खोंचेवालों, फ़र्राश, चपरासियों इत्यादि से भी मैंने थोड़े ही समय में रब्त-ज़ब्त पैदा कर लिया। ये सब मुझसे बहुत प्रसन्न रहते थे और समय-समय पर मुझे सुना-सुनाकर ईश्वर से मनाया करते थे कि यदि मेरे-जैसे लड़के स्कूल में अधिक संख्या में होते, तो अच्छा होता।

बारहवाँ परिच्छेद

नाच-पार्टी

इस प्रकार स्कूल में पढ़ते-पढ़ते मुझे कई महीने बीत गए। अब मुझे जो मज़ा स्कूल में आने लगा, वह कहीं नहीं आ सकता था। घर की तो मुझे याद भूल-सी गई। वहाँ भला यह लुत्फ़ कहाँ था। लड़कों में नित्य नए-नए मामले खड़े करना, मास्टरों की आँखों में धूल झोंकना, स्कूल के बग़ीचे के सारे फल-फलहरी हेडमास्टर से भी पहले खाना—ये सब बातें ऐसी थीं कि वहाँ मेरा मन ख़ूब लगा। तीसरे दर्जे के लड़के तो मुझे अपना सरदार ही समझने लगे। वे मेरी आज्ञाओं का उसी प्रकार पालन करते थे, जिस प्रकार मास्टरों की आज्ञाओं का उल्लंघन।

बोर्डिंग-हाउस में भी अच्छा-ख़ासा मज़ा था। छोटे लड़के मुझे आदर की दृष्टि से देखते थे, और बड़े लड़के मुझसे प्रेम करते थे। हाँ, सुपरिंटेंडेंट साहब की और मेरी नहीं पटती थी; पर उसके अनेक कारण थे। पहली बात थी बोर्डिंग-हाउस के क़ायदे, जो अधिकारियों ने शायद उन्हीं के कहने से बना रक्खे थे। वे क़ायदे क्या थे, सारी बालक-जाति के लिये अपमान और कलंक के रूप थे।

भला कोई बात है कि शाम होते-होते बोर्डिंग-हाउस के फाटक पर आप बड़ा-सा ताला लटका दें और फिर उसे दूसरे दिन सुबह तक न खोलें, ठीक उसी तरह, जैसे आप बकरी और भेड़ों को शाम से बाड़े में बंद करते और सुबह खोलते हैं। लड़कों का इस तरह क़ैदी बनाने का किसी को क्या हक़ है? फिर, क्या यह ज़रूरी है कि रात को दस बजते-बजते सारे लड़के अपनी-अपनी लालटेनें बुझा दें? क्या ख़ूब! यदि मैं रात को उजाले में सोना पसंद करता हूँ अथवा मुझे रात को दो बजे तक ताश खेलने का शौक़ है, तो आप मुझे मना करने-वाले कौन होते हैं? फिर, ज़ोर से हँसना-बोलना—शायद छींकना-खाँसना भी—मना था। कहाँ तक कहूँ, मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जेल के क़ायदों को ही ज़रा और सख़्त बनाकर बोर्डिंग-हाउस के नियमों का रूप दे दिया गया है। यदि उन दोनों में कोई ख़ास अंतर रह गया है, तो केवल यही कि हम लोगों को एक अच्छी-ख़ासी रक़म प्रति मास फ़ीस के तौर पर देनी पड़ती है और जेलवालों को उलटे खाना-पीना मुफ़्त मिलता है।

इन नियमों के विरुद्ध मेरा स्वाभिमान उबल पड़ा, और बालक-जाति की दुर्दशा पर मुझे तरस आने लगा। स्वयं अपने लिये मुझे इन नियमों की ज़रा भी परवा न थी, क्योंकि मैंने उनका एक दिन भी पालन नहीं किया। यदि मुझे बोर्डिंग-हाउस के बाहर जाना होता था, तो फाटक का बंद होना या खुला होना

मेरे लिये बराबर था, क्योंकि मैं प्रायः दीवार फाँदकर आने-जाने का आदी था। दूसरे क़ायदों का भी मैं इसी प्रकार आदर करता था। बोर्डिंग के दूसरे लड़के भी डरते-डरते मेरा अनुसरण करने लगे और यहाँ तक नौबत आई कि शर्त मार-मारकर बोर्डिंग-हाउस के नियमों की बेइज्ज़ती होने लगी। एक दफ़ा शहर में किसी रईस ने नाच बुलवाया। महीनों से कोई तमाशा न देखा था, इससे वहाँ जाने के लिये मन मचलने लगा। सुनने में आया कि सिर्फ़ रोशनी में ही कई सौ रुपए रोज़ का खर्चा है। अब तो मन में उबाल आने लगा। एक-आध दिन बाद सुना कि स्कूल के सारे मास्टर, हमारे सुपरिंटेंडेंट साहब और वे लड़के, जिन्हें बोर्डिंग-हाउस में रहने का सौभाग्य नहीं है, नित्य वहाँ जाते हैं—और वही क्यों, सारा शहर नित्य वहाँ उमड़ा रहता है; क्योंकि बंबई की गानेवालियों के दर्शन इस शहर में दस-बीस बरसों में मुश्किल से कहीं एक-आध दफ़ा होते हैं। ये बातें स्कूल के लड़कों की ज़बानी मुझे मालूम हुईं और मन में ऐसी भावना हुई, यदि इस नाच का माहात्म्य प्रयाग के कुंभ के बराबर नहीं, तो अर्ध-कुंभ के बराबर तो अवश्य ही है। खैर, मैंने भी विचार कर लिया कि इस पर्व में शामिल होना बहुत ज़रूरी है।

बोर्डिंग-हाउस में रोज़ की तरह उस दिन भी नाच की चर्चा उठी, पर उस दिन ज़रा ज़ोरों पर थी। फिर नाच

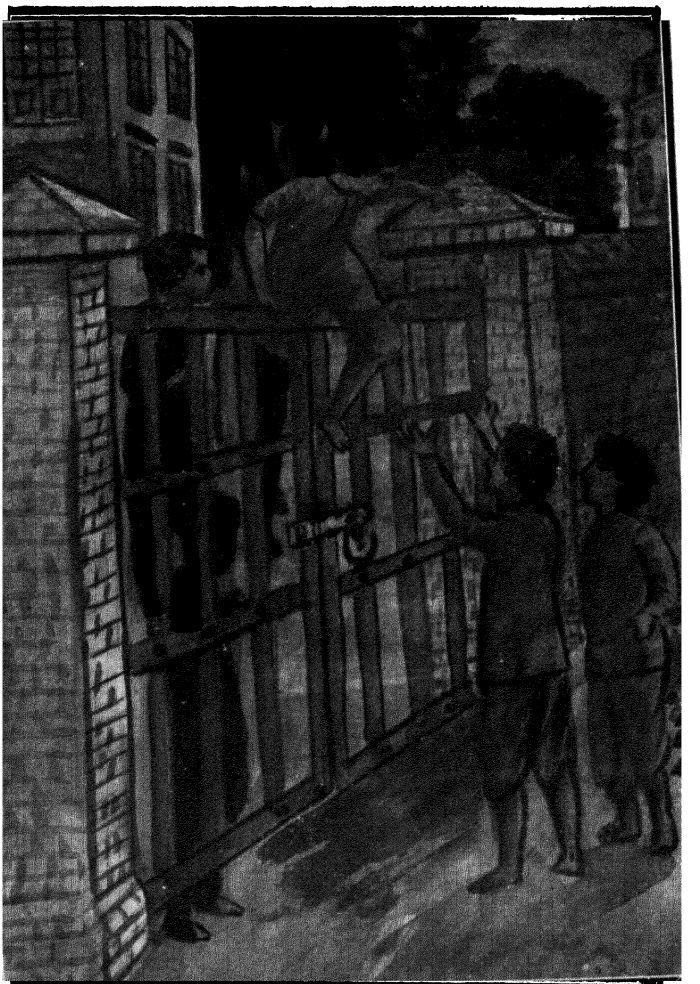

हम लोग दीवार पार करके बाहर निकले।

देखने का मैंने अपना इरादा जाहिर किया; इस पर प्रायः सभी लड़के मेरे साथ चलने को तैयार हो गए। निदान, फाटक बंद हो जाने, खाना खा चुकने और सुपरिंटेंडेंट का नौ बजे (रात)-वाला चक्कर लग चुकने के बाद हम लोग भी तैयारी करने लगे। लगभग दस बजे धीरे-धीरे एक-एक कर हम लोग दीवार पार करके बाहर निकले। चौकीदार की हमें परवा नहीं थी, क्योंकि हम लोग भली भाँति जानते थे कि सुपरिंटेंडेंट की नौ बजेवाली गश्त तक ही वह पहरा देता था—अधिक नहीं। फिर दूसरा फाटक पार किया। यहाँ केवल तार फाँदने थे। बस, आगे सड़क थी और रास्ता साफ़ था। दो किताबी कीड़ों को छोड़कर, जो शायद अपनी बुजुर्गी के कारण मेरी अगुआई स्वीकार करने में झेंपते थे, बोर्डिंग-हाउस के सारे लड़के उस जलूस में शामिल थे।

बड़ा लुत्फ़ रहा। चाँदनी रात थी। हम लोग मजे-मजे चलकर थोड़ी देर में ठिकाने पर पहुँच गए। गाना शुरू हो गया था, और भीड़ इतनी थी कि पहले तो यह ख़याल हुआ कि लोगों की पीठ और सिरों के अलावा और कोई तमाशा नज़र न आएगा। पर अंत में बुद्धि को काम में लाने से सारा काम बन गया, और ऐसा बना कि सारे लोगों पर आतंक छा गया।

हम लोगों में एक बड़ा-सा लड़का था, जिसका नाम था बुद्धू (यद्यपि बुद्धि उससे हमेशा कोसों दूर रहती थी)। वह

पक्का देहाती था, और कपड़े भी उसके बहुत साफ़-सुथरे न थे। उसे मैंने ऐसी पट्टी पढ़ाई, और उसने भी ऐसा कमाल कर दिखाया कि पूरी शान गँठ गई। अच्छा, सुनिए, क्या हुआ।

मेरे कथनानुसार बुद्धू ने पीछे से आवाज़ लगाई—"हटो, रास्ता दो; डिप्टी साहब को निकलने दो।" बस, इतना कहना था कि फिर रास्ता होते देर न लगी। यही नहीं, सारी महफ़िल डिप्टी साहब के दर्शनों के लिये व्याकुल होकर उसी ओर देखने लगी। इधर बुद्धू स्वामि-भक्त नौकर की तरह अपनी जगह पर खड़ा रहा और हम लोग एक-एक करके अंदर जाने लगे। वहाँ पहुँचकर सबसे आगे फ़र्श पर हम लोगों ने एक नई क़तार क़ायम कर दी। जब हम लोगों में से कोई आठ-दस अंदर पहुँच चुके, तब मैंने बुद्धू को कहते सुना—"भई, ज़रा और सब्र करो? डिप्टी साहब का ख़ानदान ज़रा बड़ा है।" फिर थोड़ी देर बाद कहते सुना—"अमे, घूरते क्या हो! क्या डिप्टी साहब का ख़ानदान कुछ ऐसा-वैसा समझ रक्खा है!" फिर सब लड़कों के अंदर आ जाने के बाद दो क़दम पीछे हटकर ज़रा अँधियारे में जा आपने फ़रमाया—"डिप्टी साहब! आपके बाल-बच्चे तो अच्छी तरह बैठ गए, अब आप भी चलिए।" फिर एक मिनट बाद—"ख़ैर, तो मैं वहीं आपका रास्ता देखूँगा। आध घंटे में तो आप आ ही जायँगे।" इसके बाद आप भी

आकर हम लोगों की बग़ल में बैठ गए। मेरी तो बहुत इच्छा हुई कि दौड़कर उसकी पीठ ठोकूँ, पर डिप्टी साहब के बाल-बच्चों में से होने के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिये मैंने ऐसा नहीं किया।

महफ़िल में सबसे आगे एक नई क़तार क़ायम करने से लोगों को कुछ कष्ट ज़रूर हुआ, विशेषकर उन रईसों और रईसज़ादों को, जो पहले तो सबसे आगे बैठे थे, पर हम लोगों के आ जाने से पीछे पड़ गए थे, तो भी अदृष्ट डिप्टी साहब के दबदबे से किसी ने कुछ न कहा। पर जब उन्होंने देखा कि डिप्टी साहब नहीं आए, तब तो हम लोगों के पीछे-वाली क़तार में कसर-मसर होने लगी। पहले तो वे हम लोगों से डिप्टी साहब का नाम पूछने लगे, शायद यह जानने के लिये कि तीस-पैंतीस लड़कों के बाप कौन-से डिप्टी साहब हैं। पर मैंने पहले ही से सबको सिखला रक्खा था कि कोई कुछ बोले नहीं। रोब क़ायम रखने का इससे अच्छा और कौन तरीक़ा हो सकता था? इधर से उत्तर न पाकर उन्हीं में से डिप्टी साहब के जाननेवाले कई साहब निकल आए—"वही डिप्टी न, जो परसों बदलकर आए हैं।" "अरे साहब! नवाबी ख़ानदान के हैं। उनके सात बेगमें हैं।" "कुछ हिंदू बेगमें भी हैं, उनकी औलाद हमेशा हिंदू पहनावे में रहती है।" "डिप्टी साहब रिश्ते में मेरे ख़ालू होते हैं।" इत्यादि तरह-तरह की बातें सुनने में आईं।

उधर गाना हो रहा था—

"मलिनियाँ ऐसी बनी जैसे गेंदा हजारे का फूल"

एक-एक कड़ी के बाद चारो ओर से आवाज आती थी—"वाह नसीबन !" "कमाल है !" "खूब-खूब !" बीच-बीच में अधिक श्रद्धावाले कोई-कोई भेंट-पूजा भी चढ़ाते जाते थे।

थोड़ी देर बाद पान और बीड़ियाँ बँटीं।

मैंने उस दिन के पहले न तो कभी पान ही खाया था और न बीड़ी ही पी थी। पान तो शायद मा ने कभी घूँटी-ऊटी में पिलाया हो, पर बीड़ी के लिये क़सम खा सकता हूँ। लेकिन वहाँ उस समय जो लोग बैठे थे, उनमें से मुझे एक भी ऐसा न दिखलाई पड़ा, जिसने इन चीजों को न लिया हो। इधर तबियत ने भी ज़रा ज़ोर मारा कि देखो तो इनमें कैसा स्वाद है। अस्तु। मैंने भी पान खा लिया और बीड़ी सुलगाकर मुँह में लगा ली। मैं नहीं समझता कि जब मुजरा सुनने गए, तो पान और बीड़ी में क्या ऐब ? मेरी देखा-देखी मेरे साथियों ने भी वैसा ही किया। खूब पान चबाने और धुआँ उड़ाने लगे। नवाबी खानदान के तो थे ही, अब तो नवाबी ठाठ भी हो गए।

"मलिनियाँ कैसी बनी...

अर्र्र्र्र् मैं तो भोचक्का रह गया। आगे जो नज़र पड़ी, तो क्या देखता हूँ कि सामनेवाली क़तार में सुपरिंटेंडेंट साहब बैठे हुए हुक्के की दम लगा रहे हैं। रेलों के एंजनों

को भी मैंने उतना धुआँ उगलते बहुत कम देखा है, जितना मास्टर साहब उस समय रह-रहकर उगल रहे थे। मुझे यह बात एकदम भूल गई थी कि मास्टर साहब भी महफ़िल में आ सकते थे। इससे मैं सोचने लगा कि क्या करना चाहिए। इस सोच-विचार में मुँह की बीड़ी मुँह ही में रह गई। उधर उनकी भी नज़र हम लोगों पर पड़ी। मैंने देखा कि उनके चेहरे का रंग एकदम उतर गया। हुक्के की नली हाथ से छूटकर उनके पड़ोसी के मुँह में अटक रही। उधर वह भी बिगड़ खड़ा हुआ और बड़े शरीफ़ाना ढंग से लगा मास्टर साहब को आड़े हाथों लेने। पर मास्टर साहब को उनकी बातों के सुनने की फ़ुर्सत ही कहाँ थी—आपका तो सारा ध्यान हम लोगों की ओर लगा हुआ था।

अंत में आपसे न रहा गया और आप वहीं से बड़ी शांति से पुकार बैठे—"अरे तुम लोग....." बेचारे आगे कुछ कहने भी न पाए थे कि एकदम से कई दर्जन-भर आवाज़ें उन पर बरस पड़ीं। "चुपचाप नहीं बैठा जाता!" "महफ़िल में यह कान गड़बड़ मचा रहा है?" "अजब बेहूदा है!" "उठा दो पागल का!" इत्यादि। अब क्या करते, बेचारे चुपके हो रहे। पर गाना समाप्त होते ही आपने दुगुने जोश से शुरू किया—"अरे बेहूदो! गधो! तुम लोग यहाँ क्यों आए?" इतना सुनना था कि सारी महफ़िल भर्रा उठी। चारों तरफ़ से "मारो उल्लू को, सबको गाली दे रहा है" की पुकार

आने लगी। सेठजी से भी अब न रहा गया। वे सबको शांत करते हुए बोले—"देखिए जनाब, मेरी खातिरदारी का क्या यही बदला है कि आप सारी महफ़िल को बेहूदा और गधा बनावें ?" इतने में पीछे से कोई बोला—"सेठजी, हंटर मँगाइए हंटर, यों काम नहीं चलेगा।" एक और बोला—"सोंठ की मंडी से आज ही जंजीर तुड़ाकर भागा है। सब लोग खबरदार रहना।" बोलने का मौक़ा मिलते ही मास्टर साहब भी चट बोल उठे—"सेठजी ! सबको थोड़े ही कहता हूँ। (जिधर हम लोग बैठे थे, उधर हाथ उठा) सिर्फ़ उन लोगों को कहता हूँ।" इतना कहना था कि फिर दुबारा बमचख मच गई ; पर इस दफ़ा सारी महफ़िल में नहीं, सिर्फ़ उन पाँच-छ क़तारों में, जो हमारी लाइन के पीछे थीं। तमाम लोग तन-तनाकर उठ खड़े हुए और तरह-तरह के ज़िक्र छेड़ने लगे। उधर मास्टर साहब को भी तैश आ गया और आप झपटकर दो-एक बोर्डरों पर हाथ साफ़ करने लगे। अब तो महफ़िल-भर को उनके पागल होने में ज़रा भी संदेह न रहा। चटपट कई आदमी इधर-उधर से दौड़ पड़े और उन्हें पकड़कर तुरंत ही पुलिस के हवाले कर दिया।

लोगों में बातें होने लगीं—

"बड़ा ख़ूनी पागल है। डिप्टी साहब के ख़ानदान पर तो उसने वार ही कर दिया।"

"है ख़ूनी ज़रूर। सड़क पर कई दफ़ा मैंने उसे नंगे घूमते देखा है।"

"हाँ, पर आज न-जाने कहाँ से नई पोशाक मार लाया था!"

नसीबन ने फ़रमाया—"मुआ अब जो यहाँ आवे, तो जूतियों से ही ख़बर लूँ।"

इसके थोड़ी देर बाद हम लोग भी चल दिए। चलते समय सेठजी ने 'उस पागल' के व्यवहार के लिये बहुत क्षमा माँगी और यह भी कह दिया कि डिप्टी साहब से उस मार-पीट के वाक़िए का ज़िक्र न करना।

बाहर निकलकर मैं मास्टर साहब के छुड़ाने की फ़िक्र में लगा, पर वहाँ कहीं उनका पता ही न चला। मालूम हुआ कि पुलिसवाले उन्हें थाने ले गए हैं। रात अधिक जा चुकी थी, इससे थाने न जाकर हम लोगों ने बोर्डिंग-हाउस चलने का ही निश्चय किया। वहाँ पहुँचते-पहुँचते दो का घंटा सुनाई दिया। मैं इतना थक गया था कि पड़ते-ही-पड़ते नींद आ गई।

तेरहवाँ परिच्छेद

नाच का भोर

दूसरे दिन सुबह आँख खुलते ही क्या देखता हूँ कि सुपरिंटेंडेंट महोदय बरांडे में घूम रहे हैं। आज सुबह पहले-पहले उन्हीं के दर्शन हुए। "प्रात लेइ जो नाम हमारा, ता दिन मिलै न ताहि अहारा" वाली चौपाई मुँह में आ गई। नाम लेना तो कोई बात ही नहीं—यहाँ तो प्रत्यक्ष दर्शन का मजमून था।

मालूम हुआ कि आप लड़कों को अपने पास बुला रहे हैं। मैं भी पहुँच गया। जब प्रायः सभी लड़के बीचवाले बड़े कमरे में एकत्र हो चुके, तब आपके श्री-मुख से इस प्रकार धीरे-धीरे वाक्य-बिंदु टपकने लगे, जिस प्रकार गोमुखी शीशी से दवा की बूँदें टपकती हैं। आपका गला रह-रहकर भर आता था, मानो कोई उस गोमुखी शीशी में बीच-बीच में कार्क लगा देता था। पहले तो मेरे जी में आया कह दूँ कि मास्टर साहब, पहले दिल खोलकर खूब रो ही लीजिए, फिर बात कीजिए; पर इस खयाल से कि यदि कहीं उन्होंने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, तो फिर बहुत समय लग जायगा, मैंने कुछ न कहा। बाद में मालूम हुआ कि लुटकारे के लिये पुलिस की सेवा में पत्र-पुष्प अर्पण करने के लिये मजबूर

होने से ही बार-बार आपको घिग्घी बँध जाती थी। छिः, पचास रुपए के लिये इतना अफ़सोस !

"तुम लोग...कल नाच में...बिना पूछे...क्यों गए ?"

लड़के सिखे-पढ़े तो थे ही, दो-चार एकदम बड़े आश्चर्य के लहजे से बोल उठे—"कहाँ साहब ! कौन नाच !! कैसा नाच !!!"

सुपरिं०—वही...जहाँ कल...रात को...तुम सब लोग... गए थे।

लड़के—कल रात को ? कौन गया था ? कहाँ ?

सुपरिं०—अरे...वहीं...नाच में।

लड़के—कौन-सा नाच ? मास्टर साहब ! साफ़-साफ़ कहिए।

सुपरिं०—कल रात को मैंने तुम्हें बीड़ी पीते देखा था।

लड़के—मास्टर साहब, आप न-जाने क्या कह रहे हैं। कभी नाच का ज़िक्र करते हैं, कभी बीड़ी का। यहाँ भला कौन बीड़ी पीता है ?

मास्टर साहब कुछ देर चुप रहे। इतने में एक लड़के ने कहा—"मास्टर साहब ! क्या आज आपकी तबीयत कुछ ख़राब है ?"

दूसरा—मालूम होता है, कल रात को आप अच्छी तरह सोए नहीं।

कुछ देर के बाद मास्टर साहब बोले—"तो आख़िर तुम लोग अपना...अपराध...क्यों नहीं मान लेते ?"

एक लड़का—मास्टर साहब, आप कमाल करते हैं! हम लोगों ने कौन-सा अपराध किया है?

सुपरिं०—नाच में गए थे न!

एक लड़का—मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि नाच कहते किसको हैं, वहाँ जाना तो दूसरी बात है।

सुपरिं०—अच्छा, तुम लोग यह बतलाओ कि कल रात को तुम लोग कहाँ थे?

कई लड़के—अपनी-अपनी चारपाइयों पर! और कहाँ?

सुपरिं०—झूठ बात!

कई लड़के—मास्टर साहब एकदम सच्ची! न मानिए, तो, चौकीदार को बुलवाकर पूछ लीजिए।

एक लड़का चौकीदार को बुला लाया।

मानीटर (चौकीदार से) देखो गुल्लू, सच बतलाओ, कल रात को बोर्डिंग में लड़के थे या नहीं?

गुल्लू—थे काहे नहीं? सबे हते।

मानीटर—(सुपरिंटेंडेंट से) देखिए मास्टर साहब! कहता है न कि सब थे!

सुपरिं०—(गुल्लू से) तुमको किस तरह मालूम कि सब लड़के थे?

गुल्लू—हुजूर, सरकारी लालटेन फिर काहे मिलति है?

सुपरि०—क्या तुमने लड़के गिने थे?

गुल्लू—हुजूर, का यह कौनो नई बात है! जब ते नौकरी

करी, तब ते रोजु बिला नागा लरिका जरूर गनि लेत हौं।

सुपरि०—अच्छा, कल कितने लड़के थे ?

गुल्लू—अँगरेजी गिनती तौ मोहिका आवति नाईं है, हाँ, उइसे रोजु की नायँ दुइ बाढ़ि सात पचकरी हते।

गुल्लू के गिनने के उस निराले ढंग को देखकर सुपरिंटेंडेंट साहब के मुख पर, जो स्वयं गणित-शास्त्र के विशेषज्ञ थे, हास्य की रेखा दौड़ गई। आपने रजिस्टर में देखा, तो पिछले दिन शाम को सचमुच सैंतीस लड़के हाज़िर थे। अब तो आप किसी बड़े संदेह में पड़ गए।

सुपरि०—(लड़कों से) तो क्या सचमुच तुम लोग कल रात को यहीं थे।

लड़के—मास्टर साहब, क्या आपको अब भी कुछ संदेह है ?

सुपरि०—तो कल रात को मुझे बड़ा धोखा हो गया ! मुझे ख़याल होता है कि मैंने तुम सब लोगों को कल नाच में देखा था। क्या यह सब Imagination (कल्पना) का ही फ़ितूर था।

लड़के—कौन जाने साहब ! पर क्या आप वाक़ई नाच देखने गए थे ?

सुपरि०—(निर्लज्जता से) हाँ, गया तो था। अभी सीधे वहीं से आ रहा हूँ।

कई लड़के—नहीं तो ! इस समय तो हमने आपको घर से आते देखा है।

सुपरि०—हरगिज़ नहीं ! अभी तो मैं घर गया भी नहीं।

सब लड़के—हम सबने तो आपको घर से ही निकलते देखा है। संभव है, यह हमारी आँखों का दोष हो।

सुपरि०—क्या तुम्हारे कहने का यह मतलब है कि मैं इस समय घर से निकलकर आ रहा हूँ।

लड़के—जी यही।

सुपरि०—बड़ी मुश्किल है ! तो क्या तुम समझते हो कि मैं नाच देखने नहीं गया ?

लड़के—ख़याल तो ऐसा ही है !

सुपरि०—तो क्या यह भी Imagination का खिलवाड़ है !

लड़के—ज़रूर होगा।

सुपरि०—(ख़ुशी से फूलकर) सचमुच !

लड़के—सचमुच !!

सुपरि०—(कुछ सोचकर) पर बात कुछ जमकर बैठती नहीं।

लड़के—जी, ख़्वाब की बातें कुछ ऐसी ही होती हैं और अगर कहीं भंग-वंग के झोंके ख़्वाब की मदद के लिये आ पड़े, तब तो कहना ही क्या है !

लड़कों के इस 'भंग-वंग' में बहुत कुछ छिपा हुआ था। यह तो एक प्रकट रहस्य था कि मास्टर साहब को शराब

से बहुत शौक़ था, इस कारण लड़कों के इस अंतिम वाक्य का मास्टर साहब पर बेहद असर पड़ा। आप बोल उठे—"ओह! समझ गया।"

मगर जब लड़कों ने पूछा—'क्या समझ गए?' तब इसका उत्तर देना आपने उचित न समझा, और यह कहते हुए कि तुम लोगों को अब सज़ा न मिलेगी, आप वहाँ से खसक पड़े। स्कूल जाने को देर हो रही थी, इससे हम लोग भी शीघ्र नहा-धो, खाना खा स्कूल चल दिए।

उसी दिन शाम को बड़ी रंगत आई। मैं सुपरिंटेंडेंट साहब से बाज़ार जाने के लिये छुट्टी माँगने के लिये गया हुआ था, पर यह देखकर कि आप एक लाल पगड़ीवाले से बातें करने में जी-जान से तल्लीन हैं, मेरी अंदर जाने की हिम्मत न पड़ी, और उनकी बातों के समाप्त हो जाने तक मुझे वहीं बाहर ही खड़ा रहना पड़ा। यद्यपि उनकी बातचीत सुनने की मेरी इच्छा कदापि नहीं थी, पर जब उनकी बातें मेरे कानों में स्वतः पहुँचकर प्रतिध्वनित होने लगीं, तब उनका न सुनना मेरी शक्ति के बाहर था। पाठको! मुझे सारी बातें मजबूरन् सुननी पड़ीं।

"अच्छा, आपको भी मेरे ख़्वाब की ख़बर लग गई? ख़ूब!"

"कौन-सा ख़्वाब मास्टर साहब! क्या आपको ख़्वाब की शिकायत है?"

"नहीं साहब, वही कल रातवाला ख़्वाब !"

"कल रात ही को तो हमसे आप से मुलाक़ात हुई थी। क्या उतनी देर में आप उस सीख़चेदार कोठरी में सो भी गए थे ? वहाँ तो मुश्किल से ही नींद आई होगी !"

"वाह रे दारोग़ा साहब ! आप बड़े दिल्लगीबाज़ हैं। अच्छा कहिए, मेरे ख़्वाब का हाल आपको किसने बतलाया ?"

"आप भी जनाब, कमाल करते हैं। मुझे किसी के ख़्वाबों से क्या निस्बत। ख़ैर, रुपए दिलवाइए, चलूँ, देर होती है। अब तो आपसे मुलाक़ात हुआ ही करेगी।"

"हाँ हाँ हाँ हाँ! ख़ूब ! दारोग़ा साहब आप बड़े पुरमज़ाक शख़्स हैं। आपका नियाज़ हासिल करके मुझे निहायत ख़ुशी हुई। (महरा ! दारोग़ा साहब के लिये पान ले आ)। पर आपने यह नहीं बतलाया कि इस ख़्वाब की ख़बर आपको कहाँ से लग गई ?"

"तोबा ! तोबा ! आपको हो क्या गया है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मुझे किसी ख़्वाब का हाल नहीं मालूम। मेहरबानी कर मुझे अब ज़्यादा न रोकिए; मेरी चीज़ दिलवाइए और मुझे चलता कीजिए।"

"ख़ूब ! दारोग़ा साहब, ख़ूब आपकी बातें सुन-सुनकर मेरा पेट फूला जाता है। आपका-जैसा Practical joker मैंने आज तक नहीं देखा। सचमुच, इस समय यदि यहाँ कोई दूसरा आदमी होता, तो वह हरगिज़ नहीं भाँप सकता था कि

आप मज़ाक़ कर रहे हैं। आपके नियाज़ से मुझे बेहद ख़ुशी है। क्या आप किसी नाटक-कंपनी में भी कुछ अर्से तक नौकर रहे हैं ?"

"लाहौल विलाक़ुअत ! आपको क्या हो गया है, जो पागलों की-सी बातें कर रहे हैं। मुझ किसी ख़्वाब से कोई ताल्लुक़ नहीं। यह मैं बीस दफ़ा कह चुका। मैं तो सिर्फ़ अपना रुपया वसूल करने आया हूँ। ज़रा जल्दी कीजिए, मुझे एक ज़रूरी काम है।"

इसका उत्तर मास्टर साहब ने क्या दिया, यह तो सुन नहीं पाया, पर यह ज़रूर सुना कि उनकी हँसी के मारे सारा घर-द्वार पाँच मिनट तक कंपायमान होता रहा। मालूम होता है कि इससे दारोग़ा साहब का धीरज, जो पहले ही से पर तौल रहा था, एकदम उड़ान भर गया।

"मुझे आपसे ऐसे ग़ैर शरीफ़ाना बर्ताव का क़तई गुमान न था, नहीं तो मैं आपको सिर्फ़ वादे पर हरगिज़ न छोड़ता। अगर आपको रुपया देना मंज़ूर न था, तो आपने वादा क्यों किया था ? अच्छा, बोलिए, आप मेरा रुपया देंगे या नहीं ?"

हा हा हा हा हा हा ! वाक़ई आपने तो आज पूरा नाटक का मज़ा दिखला दिया। कमाल है साहब, कमाल है ! ख़फ़ा होने का ढंग भी आपका बिलकुल असली-जैसा है। आज सुबह यदि सारा भेद न मालूम हो गया होता, तो कल रातवाले ख़्वाब को तो मैं असली वाक़िया समझे ही बैठा

था । आपको इन बातों में ज़रूर आ जाता और रुपया आपके हवाले कर बैठता । पर दारोग़ा साहब, यह तो आप भी मानेंगे कि ख़्वाब का वादा असली वादा नहीं होता ।"

"मास्टर साहब, आप मुझे इस वक़्त बदहवासी की हालत में मुब्तिला मालूम पड़ते हैं । आपकी बेवक़्त हँसी और ऊट-पटाँग गुफ़्तगू से यही नतीजा निकलता है । क्या आपके कहने का यह मंशा है कि मुझे रुपए देने का आपने जब कल रात को वादा किया था, उस वक़्त आप बेहोशी की हालत में थे ?"

"वाह दारोग़ा साहब ! आप भी क्या ख़ूब बन रहे हैं । मालूम होता है कुछ जानते ही नहीं । भला ख़्वाब में बेहोशी और बाहोशी का क्या ज़िक्र ?"

"अच्छा, हाँ, तो आप उस वक़्त ख़्वाब देख रहे थे ! ख़ूब रहो ! जनाब, ख़ूब रही !! रुपए न देने का बहाना आपने निहायत माक़ूल सोचा । चलो, यह भी मालूम हो गया कि आप चलते-फिरते ख़्वाब देखा करते हैं ! क्या कहें, ग़लती हो गई, नहीं तो अगर वहीं हवालात में पड़े-पड़े सड़ने देता, तो सारा ख़्वाब भूल जाता । पर आप भी क्या ही शरीफ़ हैं । यदि रुपए नहीं देने थे, तो वादा ही क्यों किया था । यह याद रखिए कि ये रुपए सहज में हज़म न होंगे ।"

मैं सोच ही रहा था कि इस वार्तालाप का क्या परिणाम होगा कि इतने में अँगरेज़ी में बड़ी सरगर्मी से बातचीत होने

लगी। एकाएक इस भाषा-परिवर्तन का कारण मेरी समझ में न आया। संभव है, गर्मागर्मी की बातचीत जिस सहूलियत से अँगरेज़ी में हो सकती है, उस प्रकार देशी भाषाओं में नहीं। इस मामले में मैं अपना विचार स्थिर भी न कर सका था कि इतने में कमरे के अंदर से बातचीत के साथ-साथ धर-पटक की आवाज़ आने लगी। मालूम होता था कि कोई कमरे का सारा सामान उठा-उठाकर ज़मीन पर पटक रहा है। अब तो मुझसे न रहा गया, चिक के अंदर मुँह डालकर झाँकने लगा। क्या देखता हूँ कि दारोग़ा साहब और मास्टर साहब अजब मुँह बनाए युद्ध के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। प्रचलित अस्त्र-शस्त्रों के अभाव में कमरे के सामान का ही युद्ध में प्रयोग हो रहा था। स्टूल इस अवसर पर बड़े ही मुफ़ीद सिद्ध हुए—यह इसी से समझा जा सकता है कि दोनो योद्धाओं की नज़रें उन्हीं पर विशेष रूप से पड़ रही थीं। हाँ, शांति-प्रिय कुर्सियाँ इस अशांति के मामले से भागने के लिये बहुत फ़िक्रमंद-सी जान पड़ती थीं और अपनी टूटी हुई टाँगों को दिखलाकर, तथा इधर-उधर करवटें बदलकर अपने इस दिली ख़याल को ज़ाहिर कर रही थीं। पर उनके ख़यालों का पूछनेवाला इस समय कोई न था। मेज़ों के ऊपर और अलमारियों के अंदर का बहुत कुछ सामान भी युद्ध-भूमि पर पड़ा हुआ दोनो योद्धाओं की वीरता की गवाही दे रहा था।

फूल इस अवसर पर बड़े ही मुफ़ीद सिद्ध हुए।

चिक के अंदर मेरे मुखारविंद के दर्शन पाते ही दोनो वीर एकदम रुक गए और लगे इधर-उधर देखने। दारोग़ा साहब को शायद उसी समय किसी ज़रूरी काम की सुध हो आई,

इसी से शायद आप अपने बटन-रहित ख़ाकी कोट की शिकनें हथेली से मिटाते हुए जल्दी से चल पड़े; हाँ, जाते समय मास्टर साहब से फिर मुलाक़ात करने का प्रस्ताव करते गए। रह गए मास्टर साहब, सो वे रूमाल से नाक का ख़ून बंद करने की कोशिश करते हुए मेरी ओर बढ़े। वहाँ गया तो था बाज़ार जाने की छुट्टी माँगने, पर इस समय उसकी याद एकदम भूल गई और मैं बोल उठा—"मास्टर साहब, आज तो कोई बड़ा ही ज़बरदस्त मामला उठ खड़ा हुआ मालूम पड़ता है!" मेरी धृष्टता की ज़रा भी परवा न करके आप सिसकते हुए बोले—"कोई ख़ास बात नहीं; वही कल के ख़्वाबवाला मामला चल रहा है। ख़्वाब में इनसे भी तो मुलाक़ात हुई थी, उसी का एवज़ देने आए थे। जंगी, ज़रा कमरे का सामान तो ठीक करा लो।"

मैंने कहा—"बहुत अच्छा!"

चौदहवाँ परिच्छेद

परीक्षा से पूर्व

जैसे-जैसे गर्मी का ज़ोर बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे मास्टरों की गर्मा-गर्मी भी बढ़ती जाती है और जब सालाना इम्तहान को दस दिन रह जाते हैं, तब तो मामला असह्य हो उठता है। फिर तो ऐसे ज़ोरों की सबक़-सुनाई होती है कि मास्टर लोग साक्षात् परिश्रम के अवतार मालूम पड़ने लगते हैं, और लड़के उसके कारिंदों के। ऐसे अवसर पर दर्जे के बड़े-बड़े दिग्गज पंडितों के भी होश-हवास ग़ायब हो जाते हैं, हम साथी साधारण कोटि के विद्वानों का तो कहना ही क्या ? यही वह अवसर है, जब कि प्रत्येक मास्टर घर से बेंत तोड़ने की क़सम खाकर चलता है और जब बाज़ार में हल्दी बहुत महँगी बिकने लगती है। परलोक में जो वैतरिणी का स्थान सुना जाता है, स्कूल के जीवन में वही इसका स्थान है ; और जिस प्रकार उसके तरने में गो-दान से बहुत कुछ मदद मिलती है, उसी प्रकार इसके तरने में ट्यूशन और भेंट-पूजा बहुत कुछ उपकारी सिद्ध हुए हैं।

धीरे-धीरे मेरे लिये भी मुसीबत का यह अवसर आ पहुँचा। सारी किताबें दोहराई जाने लगीं, और सबक़ ज़ोरों से सुने

जाने लगे। मैं मानता हूँ कि किताबों का दोहराना बहुत उपयोगी है, पर उन विद्यार्थियों के लिये, जिन्होंने साल-भर में पहले कभी उन पुस्तकों को पढ़ा हो। उन विद्यार्थियों के लिये, जिन्होंने पहले कभी उन्हें छुआ ही नहीं, मेरी राय में दोहराना एकदम बेकार है। पर मास्टरों से यह बात कहता कौन—विशेषकर गर्मी के मौसम में? भाई, मेरी तो हिम्मत न पड़ी।

पहले मैंने सोचा कि यदि कुछ समय के लिये घर की हवा खा आऊँ, तो बहुत अच्छा हो, पर हेडमास्टर ने छुट्टी देने से एकदम इनकार कर दिया। उनसे बहुत कुछ कहा-सुना, कुनबे-भर की तबियत ख़राब होने का बहाना भी किया, गाँव में एक भयंकर भूकंप के आने और सारे गाँव के तबाह हो जाने का बड़ा ही दर्दनाक ख़ाका भी खींचा, पर उन्होंने एक न सुनी। अंत में दूसरे दिन मुझे ख़ुद अपनी बीमारी का स्वाँग रचना पड़ा। उस दिन मैंने सुबह से ही एक रूमाल सिर में लपेट लिया, और हँसी रोक चारपाई पर लेटा रहा। यदि कोई पूछता, तो पहले दो-तीन बार सुनी-अनसुनी कर जाता था, पर अधिक आग्रह करने पर चुपके-से कह देता था—"भाई, बोलो मत, सिर में ज़ोरों का दर्द हो रहा है।"

जिस समय सुबह सात बजे सुपरिंटेंडेंट साहब हाज़िरी लेने आए, उस समय भी मैंने अपनी चारपाई न छोड़ी। लड़कों से पूछने पर उन्हें मेरी तबीयत के ख़राब होने का हाल मालूम हुआ, तो बेचारे मेरे पास दौड़े आए, और लगे मेरी

तबीयत का हाल पूछने। इधर मुझे इतने ज़ोरों की हँसी आई कि मैं उनकी एक भी बात का जवाब न दे सका। हाँ, हँसी को छिपाने के लिये चादर से मुँह को अच्छी तरह ढाँक लेना पड़ा। इससे उन्हें ख़याल हो गया कि हो-न-हो मेरी तबीयत कुछ अधिक ख़राब है। फिर क्या था; तुरंत डॉक्टर साहब बुलाए गए।

डॉक्टर साहब कोई बड़े ही विद्वान् और सीधे-सादे आदमी थे। तबीयत-संबंधी मेरी सारी बातों को आप पूरे तौर से, बल्कि उससे भी अधिक मानने के लिये तैयार थे। आते-ही-आते आपने नब्ज़ देखकर बतला दिया कि मरीज़ को ज़ोरों का बुख़ार है। जब किसी ने कहा कि बुख़ार नहीं, सिर के दर्द की शिकायत है, तो आपने यह फ़रमाया—"बुख़ार अंदरूनी है। यों थोड़े ही मालूम पड़ सकता है। मैं जर्मनी के डॉक्टर ज़ीज़बरजुल के तरीक़े से नब्ज़ देखता हूँ।" फिर थोड़ी देर बाद सोचकर बोले—"हाँ, बुख़ार भी है और सिर-दर्द भी है। बस Influenza है। यक़ीनन् Influenza है। अच्छा, नाक देखें। (नाक देखने के बाद) ओह, नाक तो एकदम सूखी है। भला यह नाक कैसे सूख गई। ओह, यह तो निमोनिया का लक्षण है। (फिर उँगली नाक के सामने रखकर) "आह! साँसें ठंडी आने लगीं। मामला बड़ा संगीन हो रहा है।"

(फिर सुपरिंटेंडेंट की ओर घूमकर) "Mr. Superint-

endent, here is a case of either Pneumonic influenza or influenzal pneumonia, accompanied by cold exhalations. The matter is very serious (as you also thought) and the patient is sinking."

फिर सबको दिलासा देते हुए बोले—"पर घबराने की कोई बात नहीं। अभी अपनी ख़ास क़ुनैन की तीन बड़ी-बड़ी ख़ुराकें भेजता हूँ। देखिएगा, फ़ौरन् सारा मामला ठंडा हो जाएगा।" यह कहकर आप चलते बने। ख़ैर, क़ुनैन की ख़ुराकें आईं, पर मैंने उस महौषधि से अपने बजाय कमरे की पछवाड़ेवाली नाली का इलाज करना शुरू कर दिया। मेरी बीमारी के अर्से-भर में उसने न-जाने कितनी ख़ुराकें हज़म कर डालीं।

अब तो मुझे छुट्टी भी बिना माँगे ही मिल गई, पर समय काटना ज़रा मुश्किल पड़ने लगा। दिन को बोर्डिंग के सारे लड़के स्कूल चले जाते, और मैं बिलकुल अकेला रह जाता। दिन-रात सिर बाँधे पड़ा रहना तो कोई सहज काम न था, इससे इस बीच में उठकर मैं ज़रा इधर-उधर घूम लेता था। फेरी करनेवाले मिठाईवालों की सहायता से उदर की पूर्ति हो जाती थी, ख़ालिस साबूदाने से मेरा पेट न भरता था। घूमने-फिरने से कुछ तफ़रीह तो हो जाती थी, पर सारे-का-सारा दिन इस प्रकार बिता देना मेरी शक्ति के बाहर था; इसी से

दूसरे दिन से इस अवसर पर मैंने शहर जाना शुरू कर दिया। जब दस बजे के लगभग लड़के स्कूल चले जाते, तो मैं भी अपने कपड़े पहन बाज़ार की सैर को निकल पड़ता। दिन-भर दिल खोलकर सैर-सपाटा करने के बाद लड़कों के आने से कुछ पहले, बोर्डिंग-हाउस पहुँच जाता, और बीमारी के ठाट बनाकर चारपाई पर लेट रहता। एक दिन बाज़ार में मदारी का खेल देखते-देखते जो वापस चलने का ख़याल आया, तो क्या देखता हूँ कि शाम हो गई है। दौड़ता हुआ जो बोर्डिंग-हाउस पहुँचा, तो वहाँ लोग मुझे पहले ही से ढूँढ़ रहे थे। यद्यपि मैंने कई ज़बरदस्त बहाने बतलाए, पर दाल न गली और नतीजा यह हुआ कि दूसरे दिन स्कूल जाना ही पड़ा।

सचमुच ईश्वर की मर्ज़ी के आगे इंसान की एक नहीं चलती। जिन झगड़ों से बचने के लिये मैंने ये सब यत्न किए, उनमें अंत में पड़ना ही पड़ा। स्कूल पहुँचते-पहुँचते मास्टर गोरूलाल से पहले ही घंटे में ज़बरदस्त मुठभेड़ हो गई। पर ग़नीमत हुई कि कोई संगीन मामला नहीं हुआ। बात यह थी कि आपने उस दिन सुनने के लिये अरिथमेटिक प्राइमर को कई मश्कें दे रक्खी थीं। आते-ही-आते आपने किताब हाथ में लेकर कहा—"अच्छा, तेरहवीं मश्क़ के जवाब बतला जाओ, पर पीछे लिखे जवाबों का न देखना।" लड़के मश्क़-भर के सवालों के जवाब जबानी याद कर लाए थे—सबने जवाब बतलाने शुरू कर दिए। फिर इसी प्रकार चौदहवीं और

पंद्रहवीं मश्क़ के सवालों के जवाब पूछे गए। दो-एक दफ़ा तो मैंने अपने पड़ोसियों की मदद से ठीक-ठीक उत्तर दे दिए, पर पड़ोसियों की मदद कहाँ तक काम दे सकती थी? अंत को मुझे अंदाज़ से ही जवाब बतलाने पड़े। इस पर मास्टर साहब उसी प्रकार उबल पड़े, जैसे ग़रीब की खीर उबल पड़ती है।

"तू बड़ा नालायक़ है। तूने कुछ नहीं याद किया। जब तक सब मश्क़ों की उत्तर-मालाएँ ज़बानी याद न कर लेगा, हरगिज़ पास नहीं हो सकता। अच्छा, बोल रे, घर से याद करके क्यों नहीं चला?"

"साहब बीमारी से उठकर आया हूँ।"

"देखो जी, मुझे बीमारी-आरामी की ज़रा भी परवा नहीं। सबक़ ज़रूरी याद होना चाहिए। चाहिए तो यह कि सवाल बाक़ायदा कापी पर हल कर सको; पर यदि यह नहीं हो सकता, तो इतना तो ज़रूर होना चाहिए कि सारी उत्तर-मालाएँ बरज़बान याद हों, जिससे इम्तहान में सवालों के जवाब तो लिख सको। कहाँ है तुम्हारी किताब, देखें तो!"

अब तो बड़ी मुश्किल आ पड़ी, क्योंकि यद्यपि साल ख़त्म होने को था, पर मैंने अब तक कोर्स की एक भी पुस्तक नहीं ख़रीदी थी। क्या करता, आज से पहले कभी दर्जे में किसी किताब की ज़रूरत ही न पड़ी थी। बिना ज़रूरत के कोई चीज ख़रीदना मैं फ़ज़ूलख़र्ची समझता हूँ। पर इस समय क्या करता? मैंने पड़ोसियों से थोड़ी-सी छीना-झपटी भी

की, पर दाल न गली। कोई चारा न देख मैंने साफ़-साफ़ कह दिया कि किताब मेरे पास नहीं है।

गोरूलालजी को जब क्रोध आता था, तो प्रत्येक वाक्य बोलने के पहले और पीछे गधा, उल्लू इत्यादि कुछ चुने पशु-पक्षियों के नाम ले लिया करते थे।

"अरे गधे ! बोल, किताब लाया क्यों नहीं ? कैसा उल्लू है ?"

"किताब मेरे पास हुई नहीं ; लाऊँ कहाँ से ?"

"गधा कहीं का ! क्या हुई तेरी किताब ? उल्लू ?"

"साहब ! मेरी किताब अभी दूकानदार के ही यहाँ है।..."

मैं पूरी बात कह भी न पाया था कि उधर पलीते में आग लग गई। डेस्कें और स्टूल पटकते, हाँफते-काँपते मास्टर साहब मेरी ओर दौड़ पड़े। जब मैंने देखा कि मास्टर साहब बिलकुल निकट आ गए, अब इज्ज़त बचना कठिन है, तो बग़लवाली खिड़की से कूदकर एकदम बाहर हो रहा। बेचारे मास्टर साहब दाँत कटकटाते और छटपटाते हुए खिड़की से झाँकते ही खड़े रह गए। उसी समय दर्जे में एक ज़ोर का ठहाका हुआ—पता नहीं। मेरी इस चाल पर या मास्टर साहब के तत्कालीन विचित्र भाव पर। अब तो मास्टर साहब अपने को न रोक सके और तुरंत एक डेस्क पर आरूढ़ हो, खिड़की से पैर लटका नीचे कूद पड़े। बेचारों को बुज़ुर्ग टाँगों पर कैसी बीती, यह तो वे ही जानें, पर हाँ, इतना मैं भी जानता

मास्टर साहब की से पैर कटका नीचे गिर पड़े।

कि उनमें से एक ने पंडितजी के हाथों की काफ़ी सहायता लेने पर भी चलने से एकदम इनकार कर दिया। कुछ लड़के बाहर भी घूम रहे थे—वे दौड़कर पंडितजी की सेवा-शुश्रूषा करने लगे। कोई टाँग मलने लगा, कोई टिंक्चर

लाने के लिये दौड़ गया, और कोई उन पर पंखा झलने लगा। अब तो मुझसे भी न रहा गया और मैं भी उनकी सेवा-शुश्रूषा में लग गया। मास्टर साहब भी केवल यही कह-कर रह गए कि यदि पैर में चोट न लग गई होती, तो देख लेता कि कैसे भागते हो।

मास्टर साहब का पैर मलते-मलते एक लड़के ने पूछा—मास्टर साहब! आजकल आपके पास कितने ट्यूशन हैं?

मास्टर साहब—अरे क्या कहें, इस साल तो बहुत कम हैं। सिर्फ़ सात लड़कों को पढ़ाता हूँ, जिनमें दो तीन-तीन रुपए, एक अढ़ाई और चार दो-दो रुपए देते हैं। तीन-तीन रुपएवालों के यहाँ मैं ख़ुद पढ़ाने जाता हूँ और शेष घर पर पढ़ने आते हैं।

ट्यूशन का मामला मास्टर साहब का ऐसा प्यारा विषय था कि ज़रा-सा छेड़ देने से आप उस पर घंटों—घंटों क्या, महीनों और वर्षों—बातें कर सकते थे! फिर आप-ही-आप बोले—अरे, आजकल काहे के ट्यूशन! आजकल तो सब यों ही मुफ़्त में ही पास होने की तरकीबें ढूँढ़ा करते हैं। यह भी सब जानते हैं कि सालाना इम्तहान के तमाम पर्चे मेरे पास रहते हैं, फिर भी कोई नहीं पूछता।

फिर इधर-उधर देखकर ज़रा धीरे से—एक ज़माना वह

था, जब मैं अकेले चालीस-चालीस और बयालीस-बयालीस ट्यूशन करता था और क्या मजाल कि उनमें से एक भी फ़ेल तो हो जाय। अब भी मैं पास कराने की गारंटी किए बिना कोई ट्यूशन हाथ में नहीं लेता।

फिर मेरी ओर देखकर—आजकल के लड़के बड़े बेहूदे हैं। ट्यूशन कराना तो दूर, कोस की किताबें तक तो ख़रीदते नहीं बनतीं। और फिर भी रईसों के लड़के कहलाते हैं।

फिर कुछ देर विश्राम के बाद—देखो जंगी बेटा! तुम बड़े कमज़ोर हो। तुम्हारा पास होना असंभव है। तुम्हें इस बात का ज़रा ख़याल रखना चाहिए।

मास्टर साहब की इस बातचीत से मुझे एकाएक यह ख़याल हो आया कि यदि मैं भी उनकी शागिर्दी उठाऊँ, तो स्कूल-संबंधी मेरे बहुत कुछ दुख दूर हो सकते हैं। मुझे पहले से इस बात के ख़याल न आने का बहुत रंज हुआ।

मैं चट से बोल उठा—आपसे घर पर पढ़ने का मेरा बहुत दिनों से विचार था, पर मैंने दोस्तों से सुन रक्खा था कि आप क़तई ट्यूशन नहीं करते, इससे आपसे कुछ कहने की मेरी हिम्मत न पड़ी।

मास्टर साहब—हाँ-हाँ! क्या कहा? मैं ट्यूशन नहीं करता! ज़रा हमें उन लड़कों का नाम तो बतलाओ। तो क्या तुमने किसी दूसरे को रख लिया? कौन बेहूदे थे? ट्यूशन तो अभी नहीं किया होगा?

मैं—नहीं, मास्टर साहब, यह कैसे हो सकता था कि आपको छोड़कर किसी दूसरे का ट्यूशन करता। मैं भी तो जानता हूँ कि स्कूल में कौन मास्टर कैसा है ?

मास्टर साहब—अच्छा, तो अभी तुमने ट्यूशन नहीं किया ! शाबाश बेटा ! तुम्हारी भक्ति देखकर मेरी छाती गज-भर की हो गई। ख़ैर, अब से ही सही। तो हम तुम्हारे यहाँ आकर पढ़ा जाया करूँ या तुम्हीं हमारे यहाँ आ जाया करोगे ?

मैंने सोचा कि मास्टर साहब के घर जाने में अधिक सुबीता रहेगा, क्योंकि इस प्रकार बाज़ार की सैर भी अनायास ही हो जाया करेगी। इस कारण मैंने अढ़ाई रुपएवाले ही ट्यूशन को पसंद किया। इम्तहान के बहुत कम दिन रह गए थे, इससे मास्टर साहब ने वह पुराना रेट स्वीकार ही न किया। अंत में आठ आने अधिक लेकर ही माने। यह भी मालूम हुआ कि मास्टर साहब ट्यूशन की फ़ीस पेशगी ही ले लिया करते हैं।

पंद्रहवाँ परिच्छेद

ट्यूशन

'ट्यूशन' क्या है ? विद्यार्थी-जीवन के सुख का महामंत्र। स्कूल के कष्टों को दूर करने, पढ़ने-लिखने के झंझटों से बरी रहने, मास्टरों की धमकियों और घुड़कियों के वारों से बचने तथा परीक्षाओं में सफलता पाने के लिये ट्यूशन ही एकमात्र अमोघ औषधि है। यदि आप चाहते हैं कि स्कूल में चैन की बंसी बजे, यदि आप चाहते हैं कि मास्टर लोग आपको देखकर मुँह बनाने के स्थान में मुस्किरा दिया करें, यदि आप चाहते हैं कि स्कूल के विद्यार्थी-समाज पर आपका रोब छाया रहे, तो मेरी आपसे बार-बार यही प्रार्थना है कि दो-चार रुपयों का मुँह न देखिए, और किसी मास्टर का ट्यूशन अवश्य कर लीजिए।

मास्टर गोरूलाल का ट्यूशन करते ही मेरे लिये स्कूल की काया पलट गई। अब मेरे लिये उत्तर-माला का कंठ करना जरूरी नहीं था। किताब का खरीदना भी बेकार था। उसके लिये तो स्वयं गोरूलालजी ने फ़रमाया कि किताब में पैसा डालना व्यर्थ है और यह विश्वास दिलाया कि विना किताब के ही काम चल जायगा। उनके घंटे में छुट्टी

भी खूब मिलने लगी। पानी पीने, पेशाब करने, नाक साफ़ करने—चाहे जिसे काम के लिये, चाहे जितनी दफ़ा मैं छुट्टी माँगता था, पर मास्टर साहब नाहीं न करते थे। कभी-कभी तो पूरा घंटे-का-घंटा बाहर ही बिता देता था, पर मास्टर साहब किसी प्रकार की शिकायत न करते थे।

यही क्यों, बेचारों ने दूसरे मास्टरों से भी मेरी सिफ़ारिश कर रक्खी थी, इससे अब सभी घंटों में खूब सुबीते से जीवन व्यतीत होता था। यदि वे सिफ़ारिश न भी करते, तो भी शायद अधिक अंतर न पड़ता, क्योंकि ट्यूशनवाले लड़कों का मास्टरों की निगाह में बिलकुल दूसरा स्थान हो जाता है। मेरी समझ में तो ट्यूशनवाले लड़कों को मास्टर लोग उतने ही आदर की दृष्टि से देखते हैं, जितने आदर से कोई पंडा मोटे जजमान को देखता है।

पढ़ने का यह सिलसिला था कि मैं मास्टर गोरूलाल के यहाँ जब-तब हो आता था। उनकी सिफ़ारिश से सुपरिटेंडेंट साहब ने मुझे इजाजत दे रक्खी थी कि मैं चौबीसो घंटे में किसी समय बोर्डिंग-हाउस से जा सकता था। इस आज्ञा का मैं भरपेट इस्तेमाल करता था, पर गोरूलालजी के यहाँ पहुँचता दूसरे-तीसरे ही दिन था। बेचारे वह भी इस बात की कोई शिकायत नहीं करते थे। जब मैं उनके यहाँ पहुँच जाता था, बेचारे चट घर से बाहर निकल आते थे, एक टाट का टुकड़ा तुरंत दरवाजे पर बिछ जाता था, और शिक्षक और शिष्य दोनो

ही उस पर आराम से बैठ जाते थे। पंडितजी के लगभग एक दर्जन नाती-पोते थे—उनके खिलाने तथा हमें पढ़ाने का काम एक साथ होता था। कोई तीन-चार तो हर समय उनकी गोद में बैठे रहते थे, और बाक़ी बेचारे वृद्ध की पीठ पर चढ़ने, सिर पर बैठने और तरह-तरह की कलाबाज़ियाँ खेलने का अभ्यास करते थे। मास्टर साहब जब कोई बात हमसे कहते, तो सारे बालक एक स्वर से उसी बात को अपने-अपने ढंग से दोहराते थे। यह, मास्टर साहब के शागिर्दों के लिये—ख़ासकर मेरे लिये—बहुत लाभदायक बात थी, क्योंकि इस प्रकार दोहराए जाने से मास्टर साहब की बातें दिमाग़ में गड़कर बैठ जाती थीं। शायद अपने शागिर्दों को इस प्रकार लाभ पहुँचाने के लिये ही मास्टर साहब पढ़ाई के काम में अपने नाती-पोतों से मदद लिया करते थे।

पढ़ाई के समय मास्टर साहब ट्यूशन के बँधे हुए नियमों का बख़ूबी पालन करते थे। आते-ही-आते सबसे पहले अपने घरेलू मामलों का ज़िक्र छेड़ देते। अपने नाती-पोतों में से हरएक के नाम बतलाते, और बड़े अभिमान के साथ प्रत्येक के दिन-भर के कारनामे बयान कर जाते। "लल्लू बड़ा ढीठ है, उसने आज मेरी मूछ के कई बाल नोच डाले।" "पिट्टू को उसकी मा ने इतना मारा कि बेचारे को ज्वर चढ़ आया। तभी तो वह गोद से नहीं उतरता।"

इसके बाद रोब गाँठनेवाली बातों का मज़मून शुरू होता।

"हेडमास्टर जब कोई काम करते हैं, तो मेरी राय जरूर लेते हैं। आज मुझसे-उनसे डेढ़ घंटे बातें हुईं।" या "यदि मैं स्कूल में न होता, तो बेचारे हेडमास्टर को बड़ी दिक़्क़त रहती।" या "शहर के सारे रईस मेरा लोहा मानते हैं।" फिर बारी आती थी हम लोगों के रहने के स्थानों तथा बाप-दादों का परिचय पूछने की। इस प्रकार भूमिका के उपरांत ज्यों ही आपके मुँह से निकलता "अच्छा The boy had no book. किताब निकालो", त्यों ही प्रायः कोई नाती-पोता रोने लगता और बेचारों को उसे चुप करने में बहुत परिश्रम करना पड़ता। यदि वे किसी प्रकार ऐसे समय पर चूक जाते, तो उसी समय अंदर से लकड़ी, तेल, नमक या चावल इत्यादि किसी बहुत जरूरी चीज के चुक जाने का समाचार पहुँचता था, जिसके उसी समय लाए बिना घर के अमन-चैन में बाधा पड़ने का अंदेशा रहता था। ऐसे अवसरों पर मास्टर साहब को सारे काम छोड़कर तुरंत बाज़ार दौड़ना और हम लोगों को भी उनकी सहायता के लिये साथ जाना पड़ता था। यदि वह जरूरी चीज एक पैसे से अधिक की नहीं होती थी, तो विद्यार्थियों में से ही किन्हीं दो-तीन को उसके लाने का कार्य-भार उठाना पड़ता था। ऐसे अवसरों पर बहुधा पंडितजी के घर में पैसे भी चुक जाया करते थे, जिससे मास्टर साहब को वहाँ उपस्थित अपने विद्यार्थियों से ही फ़ीस में मुजरा देने के वादे पर माँग-मूँगकर (या यदि अधिक की जरूरत हुई, तो चंदा

करके) काम चलाना पड़ता था। पर ट्यूशन की फ़ीस वसूल करते समय मास्टर साहब को इन क़र्ज़ों की याद रहती थी, इसमें मुझे बहुत कुछ संदेह है।

इन झगड़े-बखेड़ों से निबटते-निबटते मास्टर साहब प्रायः इतना थक जाते थे कि हम लोगों को छुट्टी दे देते थे। यदि हिम्मत करके दुबारा किताब खोलने का प्रस्ताव भी करते, तो प्रायः कोई दूसरी ही मुसीबत आ पड़ती थी। यदि कोई दूसरी अड़चन नहीं उठ खड़ी होती थी, तो पहले किताब के पन्ने गिने जाते, इम्तहान की तारीख़ तक के दिन जोड़े जाते और यह निश्चित किया जाता था कि प्रतिदिन इतने पेज पढ़ने से इम्तहान के समय तक किताब ख़त्म हो जायगी। लुत्फ़ की बात यह थी कि एक दिन का लगाया हुआ हिसाब अगले दिन किसी को याद न रहता था, इससे प्रतिदिन यह हिसाब जोड़ना अनिवार्य हो गया था। उत्तर-माला में इसका कोई जवाब तो था ही नहीं, इससे मास्टर साहब को इस हिसाब के भिन्न-भिन्न उत्तर स्वीकार करने पड़ते थे।

इस हिसाब के बाद चाहे शाम हो या सुबह, मास्टर के पूजा-पाठ का समय आ जाता था, इसलिये जो कुछ आपको बतलाना होता था, ज़रा जल्दी में बतला जाते थे, और अगले दिन बहुत कुछ बतलाने का वादा करके हम लोगों को छुट्टी दे देते थे।

मास्टर साहब के यहाँ जब मैं जाता था, तो एक दफ़ा बाज़ार

जरूर हो लेता था । एक दिन उनके यहाँ जाते समय बाजार में कुछ लड़के मिले, जो कई एक अधमरे चूहे डोरों में बाँधे हुए खेल रहे थे। बाजारू कुत्ते भी लालच में आकर उनके पीछे-पीछे दुम हिलाते हुए घूम रहे थे, और मौक़ा पाते ही बेचारे चूहों पर एक-आध दाँत मार ही देते थे। यह सामान देखकर मुझसे न रहा गया और मैं उन लड़कों से दोस्ती पैदा करने का यत्न करने लगा। काम कुछ ऐसा कठिन न था। मैं भी उनके गोल में पहुँचकर अपना लट्टू घुमाने लगा। पहले तो लड़कों ने ज़रा मुँह बनाए और एक-आध ने तो वहाँ से चले जाने के लिये भी कह दिया, पर जब मैंने मुस्किराकर उन्हें यह समझाया कि चूहे लट्टू के खेल को बहुत पसंद करते हैं, तब तो सबके चेहरों के भाव बदल गए। और जब मैंने उन्हें भी लट्टू के छूने और उसे नचाने की आज्ञा दे दी, तब तो सब इतने प्रसन्न हो उठे कि मुझे भी चूहों के साथ खेलने की आज्ञा दे दी। फिर क्या था, घंटों खेल हुआ, और अंत में उन नवीन मित्रों से मेरी इतनी घनिष्टता बढ़ गई कि चलते समय ख़ूब प्रेमोपहारों का परिवर्तन हुआ। लट्टू और डोर के एवज़ में मुझे कई अर्द्ध-जीवित तथा मृत चूहे मिले।

उन्हें जेब में रखकर मैं मास्टर साहब के यहाँ ठीक दोपहर के समय जा पहुँचा। वहाँ जाकर क्या देखता हूँ कि दरवाज़े पर ताला लटक रहा है। मालूम हुआ कि मास्टर साहब मय बाल-बच्चों के कहीं गए हुए हैं। अब उसी समय लौट चलने के

अतिरिक्त और कोई चारा न था। पर मैंने सोचा कि लौटने के पहले यदि मैं अपने यहाँ आने का कोई सबूत छोड़ता चलूँ, तो बहुत अच्छा हो। देखा, तो मास्टर साहब के सदर दरवाज़े में कई बड़े-बड़े सूराख नज़र आए। बस, फिर क्या था, मैंने सारे-के-सारे चूहे उन्हीं सूराखों से अंदर डाल दिए। मुझे उनके वहाँ छोड़ जाने का बेहद रंज हुआ, पर एक तो वहाँ बुद्धा मौजूद न था, दूसरे उनमें से ज़रा बदबू निकल रही थी, इससे इस त्याग की याद मुझे शीघ्र ही भूल गई।

इसके दूसरे दिन जब मैं अपनी शागिर्दी निभाने के लिये मास्टर साहब के यहाँ जा रहा था, तो फिर रास्ते में उन्हीं पहले दिनवाले दोस्तों से मुलाक़ात हुई। आज मैं उनके लिये उपहार-स्वरूप अपने शिकार के कुछ बहुमूल्य चिह्न लाया था। जैसा मेरा ख़याल था, मेरे मित्रों ने उन्हें बहुत ही पसंद किया। आज भी मुझे उन नवीन मित्रों के साथ खेलते-खेलते बहुत देर हो गई।

लड़के मेरे उपहार से इतने प्रसन्न हो उठे कि मुझे एक नया खेल दिखलाने के लिये पास के एक नाले के किनारे ले गए। मैं भी ख़ुशी-ख़ुशी उनके साथ चला गया। वहाँ क्या देखता हूँ कि एक छोटा-सा नाला, जिसे मैं भी कूदकर पार कर सकता था, गँदला पानी लिए हुए धीरे-धीरे बह रहा है। मैं समझा कि शायद मछली पकड़ने का मज़मून होगा, इससे कुछ न बोला। थोड़ी दूर नाले के किनारे-किनारे चलने

के बाद उसकी एक शाख मिली, जिसमें होकर एक बहुत ही पतली धार में नाले का पानी वेग से बहता हुआ जा रहा था। इस धार के कुछ दूर आगे एक बड़ा-सा पहिया इस प्रकार लगा हुआ था कि पानी की गति के साथ-साथ वह भी घूम रहा था। मालूम हुआ कि वहीं पास ही एक पनचक्की है, जो इस पानी तथा पहिए के ज़ोर से चला करती है। तरह-तरह के वृक्ष तथा छोटे-छोटे टीले उस स्थान को लड़कों के खेलने के लिये एक बहुत ही उपयुक्त बना रहे थे।

लड़कों को मैंने वह स्थान दिखला देने के लिये धन्यवाद दिया, पर वे कहने लगे कि अभी तो असली खेल का श्रीगणेश भी नहीं हुआ। उनकी ज़बानी यह भी सुनने में आया कि पहले शहर के सब लड़के उसी स्थान पर तफ़रीह के लिये आते थे, पर चक्कीवालों से झगड़ा हो जाने से अब कोई नहीं आता। मैं भी उनका असली खेल देखने के लिये उत्सुक होने लगा।

थोड़ी देर आराम करने के बाद लड़के मिट्टी के बड़े-बड़े ढेले उठा-उठाकर नालो में डालने लगे। मैं भी ऐसा ही करने लगा। कुछ देर बाद पानी में एक छोटी-सी दीवार बन गई और पानी रुक रहा। उधर उस पहिए का घूमना भी बंद हो गया। इतना काम करके हम लोग एक टीले पर जल्दी से चढ़ गए, और पेड़ों की आड़ में चुपचाप बैठकर थकान मिटाने लगे।

थोड़ी देर बाद चक्की के अंदर से एकाएक कई आदमी निकल आए और नाली का मुलाहिज़ा करने लगे। देखते-

देखते वे लोग उस दीवार के पास आए, जिसके कारण नाली का बहाव बंद हो रहा था।

उसका देखना था कि उनमें से प्रत्येक के मुँह से गालियों के सोते फूट निकले और सारी बालक-जाति को तर-बतर करने लगे। एक-आध ने इधर-उधर नज़र भी दौड़ाई, पर किसी को न देख ख़ामोश हो बाँध तोड़ने में लग गए। फिर पानी बहने लगा, पहिया भी घूमने लगा और चक्की पूर्ववत् चलने लगी।

कुछ देर ठहरकर हम लोगों ने अपना कार्य-क्रम फिर दोहराया। इस दफ़ा तो चक्कीवाले बावले हो उठे। बालकों के प्रति ज़ोरदार शब्दों में अनेक प्रकार के विचार प्रकट करते हुए बाहर निकले। कोई बालक-जाति को ज़मीन में गाड़ देने का प्रस्ताव कर रहा था और कोई कुओं में डुबा देने का। कोई नरमांस-भक्षी होने का दावा करता था और कोई हत्या करने में कुशलता का। उनका उद्वेग और क्रोध एकदम दर्शनीय था। हम लोगों को तो बड़ा ही लुत्फ़ आने लगा। पर जब वे हम लोगों को ढूँढ़ते हुए उस टीले की ओर आने लगे, जहाँ हम लोग छिपे बैठे थे, तब तो ज़रा फ़िक्र होने लगी। और जब उन्होंने, हममें से किसी एक को देखकर, दौड़ने का प्रस्ताव किया, तब तो हम लोग भी सारे लुत्फ़ को वहीं छ: अपनी टाँगों से बख़ूबी काम लेने लगे।

पर टाँगों के व्यायाम में बालक-जाति का सामना करनेवाले

कितने हैं ? कहने की आवश्यकता नहीं कि हम लोगों की विजय हुई और चक्कीवालों में से कई एक बेतरह धूल चाटने लगे और नालों में सँद गए।

पर हमारे दल के एक छोटे-से लड़के को उन्होंने पकड़ ही लिया।

हम लोग अपने साथी को छुड़ाने के लिये दुबारा चक्की की ओर जा ही रहे थे कि इतने में हमारी नजर एक ठेले पर पड़ी। घर-गृहस्थी के तरह-तरह के सामानों से वह उबला पड़ता था और उस पर दर्जनों छोटे-बड़े लड़के हँसते हुए बैठे थे। उन लड़कों को देखकर मुझे अपने मास्टर साहब के नाती-पोतों की याद आ गई। क्षण-भर बाद मास्टर साहब के भी वहीं दर्शन हुए। अब तो मुझे वहीं रुक जाना पड़ा। मास्टर साहब भी मुझे देखते हो गए। बेचारे बड़े दुखी मालूम पड़ते थे—

"जंगी बेटा ! अब तुम्हारा ट्यूशन कैसे होगा ?"

"क्यों मास्टर साहब ! कहिए, क्या हुआ ? खैरियत तो है ?"

"हाँ, खैरियत तो है, पर मेरे घर में बड़ा ही जबरदस्त ताऊन फैल रहा है। ताऊन जानते हो, एक प्रकार की बड़ी ही मारू बीमारी होती है।"

"यह तो बड़े दुःख की बात है। घर के सब लोग अच्छे तो हैं ?"

"हाँ, ग़नीमत हुई कि अभी घर में किसी को उसका असर नहीं हुआ, पर चूहों पर उसने बेढब वार किया है।"

चूहों का ज़िक्र सुनते ही मुझे बड़ी दिलचस्पी आने लगी।

"तो चूहों पर उसने वार कर दिया?"

"ह-ह! तुम वार करने की कहते हो! न-जाने कितने चूहे दुनिया से कूच कर गए! चूहों के बाद आदमियों का नंबर आने ही वाला था कि मैंने घर ख़ाली कर दिया।"

"घर ख़ाली कर दिया?"

"हाँ और क्या, नहीं तो क्या जान देता? गाँव जाकर रहूँगा—वह यहाँ से कई कोस दूर है। बहुत दूर पड़ेगा—तुम उतनी दूर पढ़ने कैसे आ सकोगे?"

"लेकिन, मास्टर साहब!...

"हाँ-हाँ, मैं समझ गया। सवारी भी नहीं जा सकती—वहाँ तक पक्की सड़क नहीं है।"

"यह तो ठीक है, मास्टर साहब, परंतु...

"हाँ, बैलगाड़ी ज़रूर जा सकती है, पर उसका इंतज़ाम कर सको, तब है। उससे तो हमें भी आने-जाने में सुभीता हो जायगा।"

"ख़ैर, यह तो बाद को देखा जायगा, पर मास्टर साहब वह चूहे..."

"तुम भी अजब बेवक़ूफ़ हो! चूहे कुछ साथ थोड़े ही लिए जा रहे हैं। वहाँ ताऊन नहीं है, निधड़क रहना।"

"नहीं, मास्टर साहब, सुनिए तो। आपके घर में मरे चूहे..."

"और कुछ अधमरे भी थे, पर मैंने फिकवा दिए।"

"और अधमरे भी मैं कल छोड़ आया था।"

"बस-बस, रहने दे। मैं तेरी बातें खूब समझता हूँ। मुझे चराने आया है। तेरी मंशा यही है न कि मैं तेरे पढ़ाने के लिये यहीं जान-जोखों में पड़ा रहूँ। सो नहीं होने का। चलो भई, ठेलेवाले चलो।"

"मास्टर साहब...

"बस-बस। फिर कहता हूँ कि ये चालें किसी और से चलना। यहाँ तो तुम्हारे ही ऐसे गधों को आदमी बनाते जन्म बीता है। चल भई, चल।"

ठेला चल पड़ा। इधर हमारे बाजारवाले साथियों का झुंड भी चक्कीवालों से अपने साथी को छुड़ाकर उसी समय आ पहुँचा। मुझे देखते ही मेरे छुटकारा पाए हुए साथी ने पुकार-कर कहा—

"देखो जंगी! चक्कीवालों ने तुम्हारावाला लट्टू छीन लिया। तुम तो हमें छुड़ाने भी न आए। चम्म, कल हमारेवाले चूहे लेते आना।"

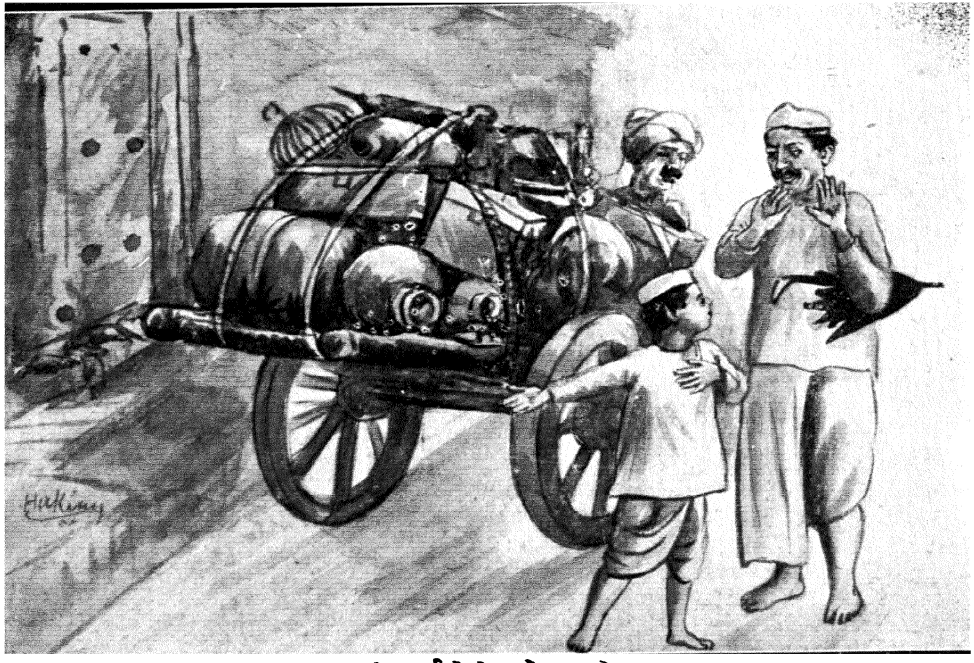

चलो भाई ठेलेवाले, चलो।

सोलहवाँ परिच्छेद

रस्टीकेशन

इस प्रकार मास्टर गोरूलालजी की शागिर्दी किए अभी एक सप्ताह भी पूरा न हुआ था कि परीक्षा आ पहुँची। परीक्षा वह चीज़ है, जिसके नाम से ही बड़े-बड़े वीरों के दिल दहल उठते हैं, पर मुझे गुरुवर गोरूलालजी के कृपा-कटाक्ष से उसकी कुछ भी परवा न थी। परीक्षा के दिन भी मैं उसी प्रकार हँसी-ख़ुशी स्कूल पहुँचा, जैसे रोज़ जाता था।

उस दिन स्कूल की शोभा बड़ी ही विचित्र थी। ऐसा मालूम होता था, मानो कोई बड़ा जलसा होनेवाला है। लड़के धराऊ कपड़े पहने हुए बड़े ठाठ-बाट से इधर-उधर घूम रहे थे, मानो किसी दावत में निमंत्रित होकर आए हैं। कोई-कोई किताबों को अब भी छाती से लगाए हुए आँखें मूँदकर अपने-अपने इष्ट-देवता का ध्यान कर रहे थे और कोई-कोई उनके वर्क़ों को ऐसे प्रेम की दृष्टि से उलट-पुलट रहे थे, मानो उनके अतिरिक्त संसार में उनका कोई दूसरा सगा ही न था। कुछ छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभक्त होकर घास पर बैठे हुए गप-शप कर रहे थे—शायद पर्चे के आउट होने की ख़बर का ज़िक्र हो रहा था। कोई पेंसिल बना

रहा था, कोई निबें गिन रहा था और कोई एकांत में बैठकर जबरदस्त चोटी फहराता हुआ, हिल-हिलकर पाठ याद कर रहा था।

स्कूल के अंदर की छटा और भी मनोहर थी। डेस्कों और बेंचों का समुद्र उमड़ा पड़ता था और उनके बीच में जल-चर जीवों की तरह मास्टर लोग धीरे-धीरे टहल रहे थे। आज मास्टरों के चेहरों से दर्प और गंभीरता टपकी पड़ती थी, मानो सारे संसार की भाग्य-डोर उन्हीं के हाथों में सौंप दी गई थी। आज विद्यार्थी जितना ही अधिक उनको सलाम करने की फ़िक्र में थे, वे उतना ही अधिक उनके सलाम स्वीकार न करने पर तुले हुए थे। यदि दसवें-बीसवें दफ़े मास्टर साहब को किसी विशेष भाग्यशाली विद्यार्थी का सलाम स्वीकार करने की फ़ुरसत मिल भी जाती थी, तो केवल उतनी ही कि वे सिर नचा दें, हाथ उठाने की नहीं। कार्य-भार की गुरुता चीज़ ही ऐसी है, जो सभ्यता की छोटी-छोटी बातें भी भुला देती है।

ख़ैर, मेरी भी परीक्षा हुई। तिलचट्टे-जैसी सूरतवाले एक सज्जन पधारे। आप स्कूल की मौखिक परीक्षा के कर्णधार हैं। आपने आते-ही-आते सारे दर्जे को ऐसा डाँटना-डपटना शुरू किया, मानो हम लोगों पर क़त्ल का कोई मामला लगानेवाले थे। "तुम लोग अजब लड़के हो! तुम्हें बैठने तक की तमीज़ नहीं।" "अरे, तुम लोग हँस क्यों रहे हो?"

"हाँ, मैं सब समझता हूँ, तुम लोगों ने मुझे क्या समझ रक्खा है, जो मुझे देख-देखकर हँसी कर रहे हो।" "अब भी तुम बेहूदों के दाँत निकल ही पड़ते हैं—सच कहता हूँ, एक-एक को देख लूँगा।"

ये मास्टर किसी बड़े ऊँचे दर्जे के मास्टर थे और हम लोगों पर रोब गाँठने के लिये उनका इस प्रकार की जोरदार बातचीत करना बहुत जरूरी था। आप हम लोगों की तरफ अजब ढंग से देख रहे थे, मानो यह पता लगा रहे थे कि रोब जमने में अभी कितनी कसर है। इतने में मास्टर गोरूलालजी पधारे, और परीक्षक महोदय के कानों मे वार्तालाप करने लगे। मालूम हुआ, आप उन लड़कों के नाम बतला रहे हैं, जिनका परीक्षा में 'खयाल रखने' की जरूरत है। परीक्षक महोदय की जबानी मालूम हुआ कि आप शुष्क न्याय के पक्ष में नहीं, किंतु दयारूपी चटनी से मिले हुए न्याय को ही पसंद करते हैं।

इससे दिल का बहुत इतमीनान हुआ। इसके बाद ही मास्टर साहब ने हम लोगों को कुछ देर के लिये बाहर जाने की आज्ञा दे दी, और यह भी कह दिया कि फिर जब तक इम्तहान खत्म न हो जायगा, पानी पीने और पेशाब करने की भी छुट्टी न मिलेगी। भला इस सख्ती का भी कुछ कहना है! खैर, हम लोग बाहर आए और आपस में यह मशविरा होने लगा कि क्या किया जाय, जिससे इम्तहान के समय में प्यास न लगे।

एक लड़के ने बतलाया कि नासपाती खा लेने से बहुत देर तक प्यास नहीं लगती। उसने निर्जला एकादशी से पहले अपनी मा को नासपाती खाते अनेक बार देखा था, इससे इसमें किसी प्रकार के संदेह की भी गुंजायश नहीं थी। पर उस समय वहाँ इतनी जल्दी नासपातियों का मिलना ज़रा टेढ़ी खीर थी, क्योंकि बाज़ार बहुत दूर था, और स्कूल के बाग़ में नासपाती का एक भी वृक्ष न था।

बहुत दिमाग़ लड़ाने के बाद अंत में एक रास्ता निकल ही आया। स्कूल से थोड़ी दूर चलकर लड़कियों का एक स्कूल था, जिसकी चहारदीवारी के अंदर नासपाती के तमाम पेड़ थे। सोचा गया कि तब तक काम चलाने के लिये कुछ नासपातियाँ वहीं से ले ली जायँ, तो क्या बुराई है? ख़ैर, हम लोग चल पड़े, और इम्तहान का डर तो लगा ही हुआ था, इससे शीघ्र ही वहाँ पहुँच गए। देखा, तो फाटक बंद मिला। बड़ा बुरा मालूम हुआ, पर नासपातियाँ तो किसी प्रकार लेनी ही थीं, इससे पिछवाड़े जा दीवार फाँदने का आयोजन होने लगा। दीवार ज़रा ऊँची थी, इससे कुछ दिक़्क़त तो ज़रूर पड़ी, पर परस्पर सहायता से हम लोग थोड़ी ही देर में उस पार हो रहे।

सचमुच, वहाँ नासपातियों की बहुतायत देखकर जी बड़ा ख़ुश हुआ, पर फ़सल का प्रारंभ ही था, इससे प्रायः कच्ची थीं। इधर दोस्तों की ज़बानी मालूम हुआ कि कच्ची नासपाती

में पक्की की अपेक्षा प्यास कम करने की अधिक तासीर है। फिर क्या था, इधर-उधर हम लोग अपनी जेबें भरने लगे। अंजीर और आड़ू के वृक्ष भी पास ही अनाथों की तरह खड़े हुए थे; उन्हें हम लोगों ने सनाथ किया। इम्तहान का ख़याल था, इससे काम ज़रा जल्दी-जल्दी हो रहा था।

वहीं से बाग़ के अंदर होकर एक पतली-सी सड़क गई हुई थी। उसके दोनों ओर मेहँदी की क़तारें लगी हुई थीं, जो दीवार का काम करती थीं। सड़क पर से बाग़ में आने-जाने के लिये कहीं-कहीं पर छोटे-छोटे दरवाज़े भी बने हुए थे। एकाएक सड़क पर से 'किक मार्च' की आवाज़ सुनाई दी। मैंने जो झाँका, तो क्या देखता हूँ कि लड़कियों का एक झुंड क़वायद करता हुआ उसी ओर आ रहा है। झटपट छिपने की ठहरी। कोई झाँड़ियों में, कोई वृक्षों पर, कोई खंदकों में और जिसे कहीं भी जगह न मिली, वह वहीं मेहँदी की आड़ में छिपकर बैठ रहा। उस समय यदि हम लोग भाग सके होते, तो बहुत अच्छा होता, पर इतनी गुंजायश नहीं थी, क्योंकि लड़कियों का दल इतने निकट आ पहुँचा था कि यदि हम लोग ज़रा भी चलते-फिरते, तो ज़रूर पकड़ जाते।

ख़ैर, लड़कियाँ आईं, और ठीक उसी जगह पर, जिसके आस-पास हम लोग छिपे थे, आकर ठहर गईं। अब उनकी अध्यापिका ने उन्हें तरह-तरह की कसरतें करानी शुरू कीं। अब तो हम लोग पूरे क़ैदी बन गए। न कुछ कर सकते थे,

न कुछ कह सकते थे। उधर इम्तहान में पहुँचने की देर हो रही थी। इधर उस औरत का शायद यह ख़याल था कि लड़कियों को आज ही सारी क़वायद सिखलाए बिना न मानूँगी।

न-जाने कितनी देर तक क़वायद होती रही और हम अपने भाग्य को कोसते रहे। लड़कियाँ क़वायद सीखकर कौन-से क़िले फ़तह करने जायँगी, हज़ार सोचने पर भी यह मेरी समझ में न आया। पर मामला अपने बस के बाहर का था, इससे चुपचाप छिपे रहने के सिवा और कुछ न बन पड़ा।

थोड़ी देर में घंटा बजा। अब तो छुटकारे की आशा एकदम लहलहा उठी। पर जब थोड़ी देर में बोरे की तरह मोटी एक बुढ़िया वहाँ पहुँचकर लड़कियों को 'प्रकृति-निरीक्षण' पर व्याख्यान देने लगी, तब तो सारी आशाओं पर ओस पड़ गई।

बुढ़िया से मुझे एकदम घृणा हो गई। यदि वह उस समय वहाँ न आ गई होती, तो लड़कियाँ ज़रूर चली गई होतीं, और इधर हम भी उड़न-छू हो गए होते। चुपचाप बिना हिले-डुले पड़े-पड़े सारा शरीर जकड़ गया था और बातचीत का अवसर न मिलने से ज़बान तालू से ऐसी सटकर बैठ गई थी कि नासपाती का स्वाद भी उसे कुछ-का-कुछ मालूम हो रहा था। उधर परीक्षा की फ़िक्र लगी थी। ऐसी हालत में सोचा था कि यदि दो मिनट का भी अवसर

मिलेगा तो भाग चलेंगे, पर उस बुढ़िया ने सारा मामला बिगाड़ दिया।

अभी तो मुझे उस बुढ़िया से केवल इतनी ही शिकायत थी और इसी को मैं बहुत समझ रहा था, पर आगे चलकर तो उसने ऐसा भंडाफोड़ किया कि अच्छी-खासी किरकिरी हो गई। प्रकृति-निरीक्षण के जोश में आकर उसे गुलाब तथा करौंदे के पत्ते का अंतर दिखलाने की ऐसी सख्त जरूरत पड़ी कि बिना किसी सूचना के सड़क पार वह बाग में पहुँच गई और लगी पत्तियाँ तोड़ने। क्या खूब! वह वृक्ष जिसकी आड़ में मैं बैठा हुआ था—वही करौंदे का वृक्ष था। उसे अपनी ओर आते देखकर मैंने चट से अधखाई नासपाती फेंक दी और पास ही पड़ी सूखी पत्तियों में छिपने का यत्न करने लगा, पर पत्तियों ने भी कमाल किया—ऐसे जोरों से शब्द करने लगीं कि यदि कोई उधर देखना भी न चाहता, तो देखने लगता। मैं पत्तियों की ओर से ऐसे विश्वासघात के लिये तैयार न था, इससे उस समय फिर और कुछ करते-धरते न बना—उनका विश्वासघात देखते हुए भी उन्हीं की सहायता लेनी पड़ी। मैंने अपने शरीर का बहुत बड़ा अंश तो पत्तियों से ढाक लिया, पर अभी हाथ और सिर खुले ही रह गए थे कि इतने में उधर से आवाज आई "अरे दादा रे! यह कौन है?"

इस बीच में मैंने सिर और हाथ भी पत्तियों से छिपा लिए।

क्षण-भर बाद मुझे अपने आस-पास अनेक छोटे-छोटे पैरों

के पड़ने की आवाज़ सुनाई पड़ी। मालूम हुआ कि सारी लड़कियाँ वहीं आ पहुँचीं। अब इस प्रकार बातचीत होने लगी—

"कौन है, श्रीमतीजी! यहाँ तो कोई नहीं मालूम पड़ता।"

"अरे, उधर पत्तियों में। आदमी के-से सिर और हाथ दिखलाई देते थे।"

"आदमी के-से सिर और हाथ! दादा रे!"

"हाँ-हाँ, कोई देखो तो क्या है?" यह कहकर अध्यापिकाजी शायद कई क़दम पीछे हट गईं, क्योंकि इसके बाद उनका बोल ज़रा दूर सुनाई पड़ा।

"तुम लोग खड़ी क्यों हो? पत्तियों में देखती क्यों नहीं हो?"

इस पर एक महीन-सी आवाज़ ने उत्तर दिया—"अध्यापिकाजी, जो भूत हुआ तो?"

इसके ज़रा देर बाद ही कोई लकड़ी से मेरे ऊपर की पत्तियाँ हटाने लगा। अब तो मेरे होश उड़ गए। इसी बीच में शायद मेरा कोई अंग खुल गया, जिसे देखकर 'कोई है! कोई है!!' की आवाज़ लगाती हुई सारी लड़कियाँ तितर-बितर होने लगीं। अध्यापिकाजी भी शायद काफ़ी घबरा गईं, इसी से उनका भी शब्द न सुनाई पड़ा। पर ज़रा देर में मेरे आस-पास फिर भीड़ लग गई। मालूम हुआ कि छुट्टी का घंटा है। फिर मेरी देह पर से पत्तियाँ झाड़ी जाने लगीं।

कोई लड़की लकड़ी से मेरे ऊपर की पत्तियाँ हटाने लगी।

और कोई चारा न देख, अब मैं स्वयं उठ खड़ा हुआ। मेरी सूरत देखते ही लड़कियाँ 'आदमी ! आदमी !!' चिल्लाकर भागने लगीं। मालूम होता है कि इसी बीच में मेरा और भी कोई साथी दिखलाई पड़ गया, क्योंकि लड़कियों के दल में दुबारा एक ओर जोरदार आवाज हुई। थोड़ी ही देर में मेरे आधे से अधिक साथी बरामद कर लिए गए।

थोड़ी देर में अपने चरण-कमलों से बूट जूते को चर-मर की आवाज करातो हुई और चश्मे के शीशों के अंदर से मुझे देखती हुई एक स्त्री ने कड़ककर पूछा—

"तुम लोग कौन हो, यहाँ क्यों आए ?"

मैंने सोचा, स्त्रियाँ डरपोक तो होती ही हैं, देखूँ, यदि ज़रा शान झाड़ने से ही काम बन जाय, तब तो बहुत अच्छा हो। यह सोचकर मैं बोला—

"श्रीमतीजी, हम लोग यों ही घूमते-घामते तुम्हारे इस बाग़ीचे में चले आए। बुरा न मानिएगा। यदि आप हम लोगों से छेड़खानी न करेंगी, तो हम तुम लोगों को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाए यहाँ से चले जायँगे।" इस पर श्रीमतीजी को हँसी आ गई, और वह अपने महरों और मालियों को याद करने लगीं। मैंने भी समझा कि चाल बेकार गई, पर दुबारा कोशिश करना ज़रूरी था। मैंने कहा—

"मेम साहब। भला सोचिए तो, इन बातों में रक्खा क्या है ? (मैंने सोचा कि मेम साहब की पदवी पाकर शायद

पिघल जाय) औरतों पर सख़्ती करने की मेरी आदत नहीं है। मुझे उम्मीद है कि आप मुझे न छेड़ेंगी। तुम्हारे महरे और माली मेरा कुछ भी नहीं कर सकते।"

इतने में माली और महरे नज़र आने लगे। अब मैंने और भी ज़ोर पकड़ा।

"मैं फिर कहता हूँ कि मुझे औरतों पर सख़्ती करना पसंद नहीं। मुझे अगर तुमने नाख़ुश किया, तो अच्छी बात न होगी।"

लड़कियाँ मेरी इन बातों को बड़े आश्चर्य से आँखें फाड़कर और मुँह फैलाकर सुन रही थीं और बीच-बीच में 'बड़ा ढीठ है' कह-कहकर मेरी प्रशंसा कर रही थीं।

इतने में कई आदमी आ पहुँचे और उस चश्मेवाली औरत की आज्ञा से हम और हमारे साथी पकड़ लिए गए। हम लोगों ने बहुत पैर फटफटाए और बहुत चुटकियाँ काटीं, पर छूट न पाए। अब तो लड़कियों के दल में ज़ोर से हँसी होने लगी।

दो-दो, तीन-तीन लड़कों को एक-एक आदमी ने पकड़ लिया। जिन्हें झगड़ालू समझा, उन्हें तो एकदम लाद ही लिया और बाहर की ओर ले चले। हमारी उभरी हुई जेबों से नासपातियों की वर्षा होने लगी। सब-की-सब अध्यापिकाएँ तथा लड़कियाँ हँसती-बोलती हुई हम लोगों के पीछे-पीछे चलीं, और इस प्रकार हमारे बचे हुए साथियों को भागने का मौक़ा देती गईं।

लड़कियों की अध्यापिका ने न-जाने किस प्रकार यह ताड़ लिया कि हम लोग स्कूल के विद्यार्थी थे। उसने हम लोगों को हेडमास्टर साहब के पास भिजवा दिया। जिस बात का मुझे भय था, वही सामने आई। बड़ी आफ़त हुई। हेडमास्टर इतने लाल-पीले पड़े कि मैं तो सन्नाटे में आ गया। दूसरे ही दिन मैं सदा-सर्वदा के लिये स्कूल से निकाल दिया गया। बेचारे गोरूलालजी ने हेडमास्टर से मेरी बहुत कुछ सिफ़ारिश की, पर उन्होंने एक न सुनी।

पहले तो मुझे बहुत ही क्रोध आया। भला यह भी कोई बात है कि तीस-बत्तीस लड़के एक ही अपराध करें और उनमें आप सबको तो छोड़ दें, और एक को फाँसी पर लटका दें। माना कि मैं उनका लीडर था—तो क्या यह भी कोई अपराध था? क्या लीडर होना भी कोई अपराध है? यदि ऐसा है, तो हेड-मास्टर को स्वयं अपने को भी अच्छी-ख़ासी सज़ा देनी चाहिए, क्योंकि वह भी तो मास्टरों के लीडर हैं।

पर धीरे-धीरे मेरा क्रोध शांत हो गया। मैंने सोचा कि संसार के सारे बड़े-बूढ़े सदैव से बालक-जाति के साथ अन्याय करते चले आए हैं। ऐसी हालत में किसी एक मामले का रोना रोना या उससे तबियत बिगाड़ना ठीक नहीं। ये दिक़्क़तें सचमुच उस समय तक रहेंगी, जब तक संसार में बालकों का स्वराज्य क़ायम न हो जायगा।

सत्रहवाँ परिच्छेद

छोटे बाबू

अब तो सारा मामला फीका पड़ गया। स्कूल से नाम कटते ही वहाँ जाना भी असंभव हो गया। मैं तो समझा था कि नाम कट गया तो क्या परवा, स्कूल जरूर जाऊँगा ; पर बेचारी समझ गलत निकली। दर्जे में बैठना तो दूर रहा, फील्ड-वील्ड में घूमना भी हेडमास्टर की आँखों में काँटे की तरह खटकने लगा। नाम कटने के दूसरे रोज मैं नित्य की तरह स्कूल पहुँचा, पर दर्जे में न जाकर बाहर ही तफरीह करने लगा। मेरे आगमन की खबर मित्रों को तो थी ही (और ईश्वर की दया से मेरे मित्र भी कुछ कम न थे) बस, फिर क्या था, पढ़ना छोड़-छोड़कर पानी-पेशाब के बहाने सब मुझसे मुलाक़ात करने के लिये आने लगे। हमारा दर्जा तो शायद खाली ही हो गया होगा। मैं भी घास में एक स्थल पर बैठ गया, और साथियों को पास ही बैठाकर तरह-तरह की मनो-रंजक बातें करने लगा। उधर मास्टरों को क्या सूझी कि उनमें से दो-तीन बिचके हुए बैलों की तरह अपने-अपने दर्जे के लड़कों को ढूँढ़ते हुए मेरी तरफ़ आ पहुँचे। सच कहता हूँ पाठको ! मैं तो उनके देहातीपने पर दंग रह गया। भला

ऐसी हरकत भी कहीं शरीफ़ मास्टर करते हैं कि लड़कों को इस प्रकार ढूँढ़ते घूमें, मानो मास्टर नहीं, बल्कि चपरासी हों। सचमुच मैं तो दंग रह गया ।

उन्हें देखते ही लड़के मेरे पास से एकदम भाग खड़े हुए । इतने पर भी उन सज्जनों को संतोष न हुआ। वे अपनी ज़बान द्वारा मुझे अपनी सभ्यता का परिचय देने लगे। यह बात मुझे बहुत बुरी मालूम हुई, और मैंने भी ईंट का जवाब ईंट से ही दिया। अब तो वे और भी लाल-पीले पड़ने लगे, पर यहाँ कब डरनेवाले थे—अकड़े ही रहे। जब कुछ करते-धरते न बना, तो अपने हिमायती हेडमास्टर के पास दौड़े गए—इधर मैंने भी उठकर राह ली। हाँ, जब दूसरे दिन ठीक दस बजे मैं स्कूल में फिर हाज़िर हुआ, तब चपरासी ने फाटक पर से ही रोक दिया। उस दिन से फाटक के बाहर ही दोस्तों से मुलाक़ात होने लगी।

अब रहने का भी बड़ा ही पेचीदा सवाल पेश हुआ। स्कूल से नाम कट जाने पर बोर्डिंग-हाउस से भी नाम काट दिया गया । यह कहाँ का न्याय था, सो मेरी समझ में न आया । पर बोर्डिंग से मुझे निकालना ज़रा टेढ़ी खीर थी। इस मामले पर तो मैं एकदम से अड़ गया और बेचारे सुपरिटेंडेंट मारे परेशानी के पागल हो उठे। मैंने उनसे साफ़ कह दिया कि चाहे आप नाम काटिए और चाहे रखिए, पर अभी हाल में बोर्डिंग से निकलने का मेरा इरादा नहीं है।

मैंने उनसे यह भी कह दिया कि पहले कम-से-कम पंद्रह दिन का नोटिस दीजिए, फिर निकालने का नाम लीजिए। पर यह बात उनकी समझ ही में न आई। समझ में आती कैसे, जब कभी भले आदमियों में रहे होते, तब न। खैर, जैसे-तैसे टाल-मटोल करके मैं चार दिन तो काम बना ले गया। और संभव था कि अधिक नहीं, तो चार दिन और भी निभा ले जाता, पर मामला दूसरा ही आ पड़ा।

पाँचवें दिन एकाएक पिताजी आ पहुँचे। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे अवसर पर उनका वहाँ आना मुझे एकदम अच्छा न लगा। नाम कटने का जिक्र सुनकर शायद उन्हें दुख होगा, यह सोचकर मैंने उन्हें स्कूली मामलों का कोई समाचार ही न भेजा था। पर अब तो उन्हें सारी बातें मालूम हुए बिना न रहेंगी—यह सोच-सोचकर मेरा दिल दहलने लगा। पर इसमें सारा अपराध उन्हीं का था—न वह आते और न उन्हें अप्रिय समाचार सुनकर दुख सहना पड़ता। सचमुच, तकलीफें मनुष्यों के पास नहीं जातीं, मनुष्य स्वयं उनके पास जाते हैं।

खैर, पिताजी को मैंने सारी बात बतला दी। क्या करता, मजबूरी थी—यदि मैं न बतलाता, तो कोई दूसरा ही बतला देता। ऐसी हालत में तो मामला और भी बेरंग हो जाता। मैंने जो कुछ बतलाया, बहुत सोच-समझकर बतलाया; कोई दूसरा भी मेरी ही तरह सोच-समझकर सारी बात कहता, इसमें

मुझे संदेह है। पिताजी सारी बात सुनकर पहले तो नाराज़ हुए, पर मेरा अपराध तो था नहीं, इससे उनकी नाराज़ी न टिकने पाई। हाँ, बेचारे परेशान कई दिन तक रहे। हेडमास्टर से उन्होंने मुलाक़ात भी की, पर उसका क्या परिणाम हुआ, मुझे नहीं मालूम। बोर्डिंग-हाउस छुड़ाकर उन्होंने मुझे अपने एक मित्र के यहाँ रख दिया, और किसी दूसरे स्कूल में मेरा नाम लिखाने का यत्न करने लगे।

शहर में एक दूसरा अँगरेज़ी स्कूल भी था। पिताजी मुझे उसमें ले गए। वह स्कूल मुझे एकदम नहीं जँचा। उसके ठाठ-बाट ही ऐसे थे कि देखते ही जी मचलाने लगता था। एक पुरानी सड़ी-सी इमारत, जिसकी नींव शायद बाबा आदम के ज़माने में पड़ी होगी, डायन की तरह खड़ी हुई दर्शकों के दिल दहला रही थी। मैंने पिताजी से साफ़-साफ़ कह दिया कि मुझे इस स्कूल में पढ़ना बेहद नागवार होगा, पर उन्होंने कुछ ख़याल न किया और उलटे मुझे डाँटने-डपटने लगे। पर धन्यवाद है उस स्कूल के हेडमास्टर को, जो एक बहुत ही समझदार आदमी मालूम पड़ता था कि उसने मुझे भर्ती करने से एकदम इनकार कर दिया। पिताजी ने बहुतेरा कहा-सुना, पर उसने एक न मानी और साफ़-साफ़ कह दिया कि मैं रस्टीकेट किए गए लड़के को हरगिज़ नहीं ले सकता। इससे पिताजी तो बहुत उदास हो गए, पर मेरे जी में जी आ गया।

पिताजी मुझे एक-दो और छोटे-मोटे स्कूलों में ले गए, पर किसी ने मुझे लेना स्वीकार न किया। मुझे ख़ुद भी तो किसी में भर्ती होने की दिलचस्पी नहीं थी, इससे मुझे इस बात की ज़रा भी परवा न हुई। अंत में एक दिन रेल पर बैठाकर पिताजी मुझे घर वापस ले गए।

मैंने देखा कि साल-भर बाहर रहने के बाद घर में तथा गाँव में मेरा रुतबा बढ़ गया है। प्रायः सभी लोग मुझे आदर की दृष्टि से देखने लगे। गाँव के लड़के मुझे देवता समझने लगे, और जब कभी मुझसे बातचीत करते थे तो बड़े अदब के साथ। गाँव के बड़े-बूढ़े भी मेरे प्रति अधिक श्रद्धा प्रकट करने लगे, और शायद पहले की अपेक्षा अधिक डरने भी लगे। घर में मा भी अधिक सत्कार करने लगीं। हाँ, यदि किसी पर मेरा रोब ग़ालिब नहीं हुआ था, तो वह शरदिया थी। अजब नासमझ लड़की थी। अब तो वह मेरी बात-बात में हँस पड़ती थी। जब कभी मैं शुद्ध स्कूली भाषा में बातचीत करता या अपना हाफ़पेंट और ख़ाकी कोट पहनकर कहीं जाने लगता या उसे किसी कठिन शब्द का अर्थ बतलाने लगता, तो वह मारे हँसी के लोट-पोट जाती और कहने लगती—"अब तो दादा शहरुआ हो गए हैं।" कभी कहती—"ओ हो! दादा तो विद्वान् हैं, उनका क्या कहना!" उसकी इस प्रकार की बातें मुझे हरगिज़ अच्छी न लगती थीं। शेष सब कुशल थी।

पर यह बात कुछ ही दिन रही। पिताजी को न-जाने क्या सूझी कि उन्होंने लोगों में मेरे रेस्टोकेशन का जिक्र कर दिया। अब तो सारे गाँव में मेरी बदनामी होने लगी। जब कभी मैं बाहर निकलता था, लोग मुझसे बड़े ऐंड़े-बेंड़े सवाल करने लगते थे और मैं दाँत पीसता हुआ आगे बढ़ जाता था। अब तो मेरे दिल में पश्चात्ताप के स्रोत उमड़-घुमड़कर बहने लगे, इच्छा होने लगी कि यदि किसी स्कूल में फिर भरती हो सकूँ तो बहुत अच्छा हो। पर यह इच्छा इस जन्म में तो पूरी नहीं हो सकी, अगले में हो तो हो।

कुछ ही दिन बाद पिताजी ने मुझे अपना कार-बार सिखलाना शुरू किया। मुझे भी इस काम में धीरे-धीरे दिलचस्पी आने लगी। छ महीने में ही मैं लेन-देन तथा जमींदारी के काम में खूब निपुण हो गया, यहाँ तक कि पिताजी को मुझसे अच्छी खासी सहायता मिलने लगी। इसके कुछ ही दिन बाद मा के अनुरोध से मेरा विवाह भी हो गया। मेरी स्त्री पढ़ी-लिखी थी। वह स्वयं खूब पढ़ती-लिखती थी और मुझे पढ़ाने के लिये भी हरदम तैयार रहती थी। सचमुच नन्हू पंडित और मास्टर गोरूलाल जो काम नहीं कर सके थे, वह उसने कर दिखाया। दूर की तो मैं कहता नहीं, पर आज दिन गाँव में मेरा जैसा पढ़ा-लिखा आदमी दूसरा नहीं है।

अब गाँववाले मुझे 'छोटे बाबू' कहकर पुकारते हैं, पर

हाँ, जब-तब गाँव की औरतें भूल से मुझे 'नटखट पाँड़े' कह बैठती हैं। अब मैंने संसार में बालकों का स्वराज्य स्थापित करने का विचार छोड़ दिया है।